साहित्यालोचन

के

प्राचीन एवं नवीन सिद्धान्त

[साहित्यालोचन सम्बन्धी सैद्धान्तिक निबन्ध]

सम्पादक

डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'
प्रतापचन्द जैसवाल

प्रकाशक

सरस्वती संवाद, आगरा

(मू० ७)

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विषय सूची

हमारे नवीनतम-प्रकाशन

१—साहित्यिक: शोध के सिद्धान्त और समस्याएँ	डॉ० देवराज उपा०	मू० ५)७०
२—शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन	डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी	मू० ८)५०
३—हिन्दी भाषा: विकास और विश्लेषण	डॉ० चन्द्रभान रावत	मू० १५)
४—कहानी में औत्सुक्य का अनुतत्व	प्रो० रमेश बक्षी	मू० ३)७५
५—काव्य का प्रयोजन	प्रो० नित्यानन्द प्रसाद	मू० ३)७५
६—हिन्दी एकांकी: तत्व विकास और एकांकीकार	डॉ० रामचरण महेन्द्र	मू० ४)५०
७—भगवती प्रसाद वाजपेयी:व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ० वैजनाथ गुप्त	मू० २)५०
८—मीराबाई की काव्य कला और जीवनी	डॉ० नारायण शर्मा	मू० ३)७५
९—सूरदास	प्रो० राम मणि त्रिपाठी	मू० ३)
१०—कारवाँ चला गया (उपन्यास)	श्री प्रतापचन्द्र	मू० २)

अक्टूबर ६७ का प्रकाशन

१—कबीर की साखियों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन डॉ० शुकदेव सिंह

हमारे शोध ग्रन्थ

१—आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	डॉ० गणेशदत्त गौड़	मू० १५)
२—भारतेन्दु और नर्मद का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ० अरविन्द कुमार देसाई	मू० १०)
३—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प विधान	डॉ० श्यामनन्दन किशोर	मू० १६)
४—खड़ी बोली कविता में विरह-वर्णन	डॉ० राम प्रसाद मिश्र	मू० १६)
५—तुलसी की काव्य-कला	डॉ० भाग्यवती सिंह	मू० १२)५०
६—हिन्दी उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन	डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री	मू० ८)५०

पता—

सरस्वती पुस्तक सदन,

मोतीकटरा, आगरा-३

१

साहित्य के शाश्वत मूल्य

प्रो० रमेशचन्द गुप्त एम० ए०

साहित्य के शाश्वत मूल्य से हमारा अभिप्राय उन विशिष्ट तत्वों से है जो साहित्य का स्वरूप-निर्माण करने में आधार-भूमि के समान महत्वपूर्ण होते हैं। ये आधारभूत तत्व युग अथवा देश-विशेष के साहित्य की सम्पत्ति न होकर सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हैं। अर्थात् जो तत्व साहित्य-मात्र की रचना में अनिवार्यतः सहायक सिद्ध हों, उन्हें साहित्य के शाश्वत मूल्य कहना चाहिए।

जब हम साहित्य के शाश्वत मूल्यों पर विचार करते हैं तब 'साहित्य' शब्द से हमारा अभिप्राय मानवीय भावों की उस लिपिबद्ध उपलब्धि से है जो हमारे जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हों; जो हमारे जीवन-दर्शन को विकास की ओर प्रेरित करें। डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार तो 'साहित्य का और अन्य ललित कलाओं का धर्म ही प्रकाश करना है।'[1] सामान्य व्यवहार में भी जो वस्तु हमारे लिए जितनी अधिक उपयोगी होती है उसे हम जीवन के लिए उतना ही अधिक मूल्यवान् घोषित करते हैं। अतः साहित्य के शाश्वत मूल्य भी वही होगें जो साहित्य में प्रतिष्ठित होकर हमारे जीवन का विकास कर सकें।

साहित्य के शाश्वत मूल्यों का निर्धारण साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। जो तत्व साहित्य के उद्देश्य में सहायक होंगे वही उसके शाश्वत मूल्य कहे जाएगे। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि साहित्य का उद्देश्य है प्रमाता को रस (आनन्द) प्रदान करना। साहित्य द्वारा यह आनन्दोद्रेक अथवा रस की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है? अर्थात् वे कौन-से तत्व हैं जिनके द्वारा साहित्य में रस की प्रतिष्ठा की जाती है? रस प्रदान करने के लिए साहित्य में तीन बातों का होना अत्यन्त आवश्यक है—(क) सत्य की अभिव्यक्ति, (ख) लोक-कल्याण की भावना, और (ग) सौन्दर्य का प्रतिपादन।

(ग) सौन्दर्य का प्रतिपादन

यदि साहित्य में इनमें से एक तत्व का भी अभाव रह गया तो रस-प्राप्ति में बाधा पहुँच सकती है। अतः साहित्य के लिए अनिवार्य होने के कारण उपर्युक्त तीनों तत्वों का उसके शाश्वत मूल्य माना जा सकता है।

---

१. साहित्य का मर्म, पृष्ठ ६२

साहित्य और सत्य की अभिव्यक्ति

सत्य से हमारा अभिप्राय है जीवन और जगत् के प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा प्राप्त अनुभूति। साहित्यकार द्वारा इसकी उपलब्धि अत्यन्त आवश्यक है। अनुभूति के अभाव में वह साहित्य-सर्जन में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। यदि केवल कल्पना के बल पर साहित्य-निर्माण की चेष्टा की जाएगी तो सत्य से दूर होने के कारण पाठक पर उसका अभीष्ट प्रभाव न पड़ सकेगा। और, उस दशा में ऐसे साहित्य की रचना से लाभ ही क्या। अतः यह निर्विवाद है कि साहित्य-रचना के लिए अनुभूति का होना आवश्यक है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जीवन के सत्य और साहित्य के सत्य में थोड़ा अन्तर है। जीवन का सत्य तो वस्तु के यथार्थ रूप का प्रतिपादन है जबकि साहित्य के सत्य में कल्पना का अनिवार्य योग भी विद्यमान रहता है। यदि जीवन के सत्य को ही साहित्य में प्रतिफलित करने का प्रयास किया जायगा तो उसमें नीरसता आने की सम्भावना रहेगी। जबकि कल्पना के सहयोग से उसमें नित्य नवीनता, मौलिकता और रोचकता का समावेश होता रहता है। सम्भवतः इसी कारण अग्निपुराणकार ने कवि द्वारा अपनी इच्छानुसार विश्व-निर्माण करने के सम्बन्ध में लिखा है—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।'[1]

वैसे भी, वस्तु-सत्य तो अपरिवर्तित होता है। यदि सभी साहित्यकार उस एक सत्य की ही अभिव्यक्ति करने लगें तो साहित्य-क्षेत्र में निश्चय ही गतिरोध उत्पन्न हो जाएगा। एक ही बात की पुनरावृत्ति देखकर पाठक विभिन्न साहित्य-ग्रन्थों का अध्ययन क्यों करेगे? अतः उस एक वस्तु-सत्य को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करने के लिए कल्पना की अनिवार्य आवश्यकता है।

साहित्य में कल्पना का योग एक अन्य दृष्टि से भी स्पष्ट है। साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति माना गाया है। यह अभिव्यक्ति निश्चय ही कल्पना से समृद्ध होनी चाहिए। यों तो हँसना, रोना, प्रेम, युद्ध आदि सभी क्रियाएँ जीवन की अभिव्यक्ति ही हैं— किन्तु इन्हें तो हम साहित्य नहीं मान सकते। जीवन की अभिव्यक्ति होने पर भी साहित्य में उसके विशेष रूप को ग्रहण किया जाता है— वह है उसकी कल्पनामयी अभिव्यक्ति।

हाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या सत्य की अनुभूति और कल्पना के अभाव में साहित्य नहीं लिखा जा सकता? इसका उत्तर निश्चय ही नकारात्मक है। यदि साहित्यकार सत्य की अनुभूति न करने पर भी रचना की ओर अग्रसर होगा तो अवास्तविक होने के कारण उससे प्रमाता का साधारणीकरण नहीं हो पायेगा। उधर दूसरी ओर साहित्य-स्रष्टा यदि अनुभूति सत्य की अभिव्यक्ति करते समय कल्पना द्वारा उसे सरस और अपेक्षाकृत अधिक प्रभावक बनाने का सत्प्रयास नहीं करेगा तो सम्भवतः वस्तु-सत्य को देखकर पाठक नीरसता का अनुभव करने लगे। अतः यह स्पष्ट है कि साहित्य में कल्पना द्वारा सरस बनाये हुए सत्य की

---

१. अग्निपुराण, २३८।१०

अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक साहित्यिक कृति में इसका होना आवश्यक है। सत्य की यह कल्पनामयी अभिव्यक्ति साहित्य का एक शाश्वत मूल्य है।

साहित्य और लोक-कल्याण की भावना

साहित्य में जिस सत्य की प्रतिष्ठा की जाती है उसका लोकोपयोगी होना आवश्यक है।[1] 'हितं सम्पादयति इति साहित्यम्' से भी स्पष्ट है कि जिससे हित-सम्पादन होता है वह साहित्य है। अतः साहित्य में भावना की सच्चाई के साथ-साथ कल्याणकारिता भी होनी चाहिए। देश-विदेश के प्रसिद्ध आचार्यों ने मनोरंजन और लोकहित दोनों को साहित्य का मूलभूत प्रयोजन माना है। रसवादियों ने रस को काव्य का प्राण-तत्व मानकर उसके औचित्यपूर्ण निर्वाह पर भी बल दिया है। रस की भूमिका में औचित्य की यह परिकल्पना लोकहित को ध्यान में रखकर ही की गई है।

वस्तुतः साहित्य एक प्रकार की साधना है जिसमें इसका साधक (रचयिता) अपने भावों और विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत करता है जिससे प्रमाता को उनसे कुछ प्राप्ति हो सके। साहित्य का लक्ष्य केवल रचयिता तक ही सीमित नहीं है, वह दूसरों को भी प्रभावित करता है— और अन्य व्यक्ति तभी प्रभावित हो सकेंगे जब साहित्य द्वारा उनके अभावों को पूर्ति अथवा किसी उदात्त और श्रेष्ठ विचारधारा की उपलब्धि हो सके। अतः साहित्य-साधना के माध्यम से रचयिता उदात्त और कल्याणकारी भावों का प्रतिपादन करता है।

साहित्य का यह लोकहितपरक गुण किसी विशेष देश या काल तक सीमित न रहकर उसका शाश्वत मूल्य है। उदाहरण के लिए हिन्दी-भाषा के साहित्य को ही लिया जा सकता है। वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक कालीन साहित्य तक यह भावना किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रही है। वीरगाथा काल का राजनैतिक-सामाजिक वातावरण देशी-विदेशी आक्रमणों के कारण युद्ध-ग्रस्त था। अतः तत्कालीन साहित्य में लोकहित की दृष्टि से वीरता की भावनाओं को वाणी प्रदान की गई। भक्तिकाल के साहित्य में लोक-कल्याण की भावना धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों की ओर उन्मुख हुई। रीतिकाल में सौन्दर्य और शृंगार को ही लोकहित का पर्याय मान लिया गया। (यद्यपि यह दृष्टिकोण उचित नहीं था और इसीलिए अस्वस्थ विचारधारा का प्रतिपादन होने के कारण रीतिकालीन साहित्य अधिक समादृत नहीं रहा।) आधुनिक युग के साहित्य में भी लोकहित का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता, द्विवेदी युग की नैतिकता, छायावादी और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के प्रणेताओं की सांस्कृतिक चेतना और प्रगतिवाद के समर्थकों द्वारा वर्ग-भेद को मिटाने के आन्दोलन की पृष्ठभूमि में लोक-कल्याण की भावना ही सक्रिय

---

१. देखिए— (अ) "केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।"
—मैथिलीशरण गुप्त

(आ) "कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहं हित होई॥"
—तुलसीदास

रही है। (लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होने पर भी प्रगतिवादी साहित्य की सबसे बड़ी कमी यह थी कि उसमें पूंजीवादियों के प्रति घृणा का प्रचार किया गया। यह स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं थी। इसी कारण इस साहित्य की शीघ्र समाप्ति हो गई।) हां, प्रायोगवदी काव्य में प्रायः लोकहित की उपेक्षा करके नितान्त वैयक्तिक और बौद्धिक अनुभूतियों को मुखरित किया जा रहा है—और सम्भवतः लोक—कल्याण से दूरी के कारण ही इस काव्य को सामाजिक प्रश्रय नहीं मिल सका है।

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि साहित्य में लोक-कल्याण की भावना किसी-न-किसी रूप में अवश्य रही है। सामाजिक मूल्यों में समय-समय पर परिवर्तन होने के कारण लोक-कल्याण का स्वरूप तो बदलता रहा है, किन्तु इसकी उपेक्षा कभी नहीं की गई। अतः हम कह सकते हैं कि लोकहित से सम्बद्ध भावों का प्रतिपादन साहित्य का शाश्वत मूल्य है। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने मानव-मन के संस्कार के लिए कला में लोकहित की प्रतिष्ठा पर बल दिया है— मैं चाहता हूं कि स्वाधीन भारत की कला-कृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्वों से ओत-प्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानव-चेतना के आलोक को वितरण करें एवं लोक-जीवन को बाहर-भीतर से संस्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने में सहायक हों।"[1]

लोकहित को साहित्य का शाश्वत मूल्य मान लेने पर कलावादियों की ओर से एक प्रवल आक्षेप किया जा सकता है कि कला तो स्वान्तः सुख के लिए होती है, उसे 'बहुजन-हिताय' से सम्बद्ध करके क्यों देखा जाए ? किन्तु यह आक्षेप अब अधिक विवेकसंगत नहीं रहा है। अधिकांश विद्वानों ने यह मान लिया है कि साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यष्टिगत होने पर भी साहित्य समष्टि की थाती है। उसका सामूहिक मूल्यांकन होना ही चाहिए। "साहित्यिक समष्टि की थाती है। उसका सामूहिक मूल्यांकन होना चाहिए। 'साहित्यिक रचनाऐं केवल व्यक्ति की निजी अनुभूति की सीमाओं में आवद्ध नहीं होतीं; वे समूची सामाजिक चेतना का अनुरणन हैं।'[2]

अतः समाज-निरपेक्ष साहित्य की रचना नहीं हो सकती—और उस दशा में साहित्यकार समाज के लिए अहित कर साहित्य की सर्जना करने में स्वतन्त्र नहीं है। उसका लक्ष्य सामाजिक उन्नति में सहायक होना और मानवतावाद की प्रतिष्ठा करना है। साहित्य के इसी शाश्वत और स्वस्थ उद्देश्य पर विचार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य निर्माण का लक्ष्य' शीर्षक लेख में लिखा है'''साहित्य इसलिए बड़ा नहीं है कि उसमें गद्य, पद्य, छन्द, कथा, कहानी होती है बल्कि इसलिए बड़ा है कि मनुष्य को उन्नत और विशाल बनाता है।'[1] अथवा 'जो साहित्य अपने आपके लिए ही लिखा जाता है उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं जानता। परन्तु जो साहित्य मनुष्य-समाज को अज्ञान, रोग, शोक, दारिद्रय और

---

१. गद्य-पथ, पृष्ठ २०४

२. साहित्य का मर्म (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ७७

२. हमारी साहित्यिक समस्याऐं, पृष्ठ ९३

परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है।'[2]

(यहाँ यह ज्ञातव्य है कि साहित्य में लोकहित की भावना का आरोपण नहीं किया जाता, वह तो उसमें से स्वयं उद्भूत होने वाला तत्व है। तात्पर्य यह कि लोकहित का जो धर्म-सम्मत रूप है वह साहित्य का विषय नहीं बन सकता; वह तो वस्तु-सत्य है और धार्मिक ग्रन्थों का वर्ण्य है।)

साहित्य में सौन्दर्य का प्रतिपादन

अभी हमने सत्य और शिवत्व के प्रतिपादन को साहित्य का शाश्वत मूल्य माना है। इन दोनों के अतिरिक्त एक अन्य तत्व भी है जिसके अभाव में साहित्य में रमणीयता नहीं आ पाती। वह है सौन्दर्य की प्रतिष्ठा। साहित्य में यह सौन्दर्य-विधान दो रूपों में किया जाता है :—

(अ) भागवत सौन्दर्य

(आ) कलागत या शिल्प-सम्बन्धी सौन्दर्य

(अ) भागवत सौन्दर्य

साहित्य में सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति की जाती है; भद्दे और असंस्कृत भावों की नहीं। साहित्य के सन्दर्भ में 'सौन्दर्य' का अर्थ इसके प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न है। सुन्दर भाव वे हैं जो मानव को क्षुद्रता से ऊपर उठाकर औदात्य की ओर ले जाएँ, राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त होने में सहायता करें। यही साहित्य का सौन्दर्य है।

प्रश्न हो सकता है कि क्या वासना आदि की अभिव्यक्ति साहित्य के लिए वर्ज्य है? वास्तव में साहित्य का एक व्यापक उद्देश्य है मानव-कल्याण में सक्षम होना; और इस प्रकार के क्षुद्र भाव इस उद्देश्य के बाधक हैं। अतः साहित्य में इनको स्थान नहीं मिलना चाहिए। वैसे तो वासना घृणा आदि जीवन के अधिक निकट हैं और प्रेम, दया, ममता आदि इन जीवन-सत्यों के ही कल्पनात्मक आदर्श हैं। अतः साहित्य में वासना आदि की अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता, लेकिन उनके वर्णन द्वारा प्रमाता पर पड़ने वाला अन्तिम प्रभाव अवश्य ही हितकर होना चाहिए। उदाहरणार्थ एक पौधे में उगने वाले फूल और काँटे; दोनों ही सत्य हैं। लेकिन दर्शक काँटे नहीं लेता वरन् फूलों का ही चयन करता है। इसी प्रकार साहित्य का अन्तिम उद्देश्य हितकर फूलों (भावों) की उपलब्धि है, न कि काँटों-सरीखे वासना, घृणा आदि भावों का उद्दाम अभिव्यंजन। इसी कारण प्रेम, दया जैसे सात्विक भाव ही साहित्य के शाश्वत मूल्य हैं। प्रेम अथवा दया के सन्दर्भ में वासना और घृणा के काव्योचित (मर्यादित) रूप का वर्णन तो किया जा सकता है, किन्तु केवल इन्हीं को साहित्य का वर्ण्य मान लेना उचित नहीं है। अतः साहित्य के वर्ण्य की दृष्टि से दया, ममता आदि से सम्बद्ध सात्विक भावों का वर्णन ही उसका शाश्वत मूल्य है। श्री हंसकुमार तिवारी ने 'कला की सार्वजनीनता'

---

२. वही, पृष्ठ ६६

शीर्षक लेख में लिखा है कि "जिस कला या साहित्य की आधार-शिला हृदय की ये चिरन्तन भावनाएं होती हैं, उनकी मृत्यु का संशय नहीं। साथ ही उनके रस का आवेदन सभी देश और सभी काल के मनुष्यों के हृदय-प्रवेश तक पहुंचता है।"[1]

वस्तुतः सौन्दर्य से हमारा अभिप्राय नेत्रों द्वारा सुन्दर दिखाई देने वाले स्थूल तत्वों से नहीं है। सौंदर्य का अर्थ है वह भाव या वस्तु जिसमें हमारे मन को मुग्ध करने की सामर्थ्य हो। यदि किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर ग्लानि या शोक द्वारा हमारा हृदय द्रवीभूत हो जाता है तो उस समय इन भावों का वह रूप-विशेष निश्चय ही सुन्दर कहलाने का अधिकारी है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि "इसी दृष्टि से क्रोध, ग्लानि, शोक आदि भावों के भी विशेष रूप रमणीय हो सकते हैं, काव्य में होते ही हैं।.........जीवन की इन अनुभूतियों के वे ही रूप रमणीय होते हैं जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके, जिनमें सहृदय की अन्तर्वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति हो। भाव की रमणीयता इसी का नाम है।"[2]

अतः यह स्पष्ट है कि मानव-मन में विद्यमान प्रेम, श्रद्धा, विस्मय, अमर्ष, शोक, क्रोध आदि शाश्वत भावों में निश्चय ही सौन्दर्य है। साहित्य में इन्हीं का वर्णन किया जाता है। इनसे पृथक रहकर साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। हां, शिवत्व की दृष्टि से इनके रमणीय और काव्योचित रूपों को ही ग्रहण किया जाता है; अपने अमर्यादित रूप में ये साहित्य-क्षेत्र से बहार की वस्तु हैं।

साहित्य की भी दो कोटियां मानी जा सकती हैं—(क) सस्ता साहित्य अथवा स्थूल मनोरंजन-प्रधान साहित्य, (ख) उच्च साहित्य। सस्ता साहित्य से हमारा अभिप्राय उस साहित्य से है जिसका उद्देश्य क्षणिक मनोरंजन करना है—चाहे वह मनोरंजन कितनी ही निम्न कोटि का क्यों न हो। इस प्रकार के अधिकांश साहित्य में अश्लील से अश्लील चित्रों को उभारने का प्रयत्न किया जाता है जिससे प्रमाता को क्षणिक आनन्द की प्राप्ति हो सके। इसके विपरीत उच्च साहित्य स्वस्थ मस्तिष्क की उपज है। उससे प्राप्त होनेवाला आनन्द क्षणिक न होकर स्थायी और क्षुद्रता की अपेक्षा परिष्कृत रुचि का परिचायक होता है। जब हम उदात्त भावों की अभिव्यक्ति को साहित्य का शाश्वत मूल्य मानते हैं तब 'साहित्य' से हमारा अभिप्राय इस उच्च कोटि के परिष्कृत साहित्य से ही है। मनोरंजन और लोक-कल्याण, अथवा एक ही शब्द में कहना चाहें तो "रस" इसी उच्च साहित्य का शाश्वत मूल्य है। सस्ते साहित्य में लोक-कल्याण की भावना कहां; वैसे भी, मूल्य तो किसी ऐसे वस्तु का गुण है जो प्रत्यक्षतः हमारे उपयोग में आ सकें या हमारे लिए अन्य उपयोगी वस्तुओं का संग्रह कर सके। निश्चय ही, सस्ते साहित्य में यह विशेषता नहीं है। उसका पठन-पाठन अथवा लेखन हमारे जीवन के लिए किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं है। अतः साहित्य के मूल्यों का सम्बन्ध इस सस्ते साहित्य से न होकर उच्चतर साहित्य से है और इसी कारण प्रेम, दया, श्रद्धा आदि के रमणीय और मर्यादित स्वरूप का प्रतिपादन सत्साहित्य का शाश्वत मूल्य है न कि सस्ते अर्थात् स्थूल मनोरंजन-प्रधान साहित्याभास साहित्य का।

---

१. कला, पृष्ठ १६३

२. अनुसंधान और आलोचना, पृष्ठ ७

(ख) कलागत सौन्दर्य

शिल्प की दृष्टि से भी साहित्य में सौन्दर्य का शाश्वत महत्व है केवल सुन्दर भावों से समृद्ध होने को ही साहित्य नहीं कहा जा सकता, उनका प्रतिपादन भी सुन्दर शैली में किया जाना चाहिए। जिस प्रकार मानव-जीवन की सत्ता के लिए आत्मा और शरीर दोनों की अनिवार्य स्थिति आवश्यक है, उसी प्रकार साहित्य में भी भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ कला-सौन्दर्य की अपेक्षा बनी रहती है। इस शिल्प-सौन्दर्य के लिए भाषागत, प्रवाह, अभीष्ट अर्थ की व्यंजना में सक्षम सशक्त शब्दों का चयन और शैली की व्यक्तिगत छाप होनी चाहिए। इन गुणों से युक्त होने पर ही कोई भी साहित्य-कृति प्रभावकारी और चिरस्थायी हो सकती है। अतः साहित्य के शाश्वत मूल्यों पर विचार करते समय कलागत सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

एक अन्य दृष्टि से विचार

साहित्य के शाश्वत मूल्यों पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। जीवन और साहित्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त कर विकास की ओर अग्रसर होते हैं। जीवन और जगत् के प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा नाना अनुभूतियों का संकलन करते हुए साहित्यकार साहित्य-रचना में प्रवृत्त होता है। उधर, दूसरी ओर साहित्य के अध्ययन-आस्वादन द्वारा उसमें प्रतिपादित विचारधारा का सामाजिक प्राणी के जीवन दर्शन पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। जब जीवन और साहित्य आत्यन्तिक रूप से इतने अधिक सम्बद्ध हैं तब निश्चय ही उनके मूल्यों में समता का होना अनिवार्य है। और इस प्रकार जीवन के मूल्यों और साहित्य के मूल्यों में अन्तर नहीं होना चाहिए। जीवन के मूल्यों का अर्थ है—भौतिक और मानसिक दृष्टि से पूर्ण समृद्धि। अतः साहित्य का शाश्वत मूल्य भी यही है कि उसे मानव के भौतिक और मानसिक विकास में सहायक होना चाहिए। साहित्य का उद्देश्य ही जीवन को पूर्ण बनाना है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मानसिक और भौतिक उत्थान में सहायक साहित्य के ये शाश्वत सत्य क्या हैं? निश्चय ही, ये हैं—सत्य, शिवत्व और सौन्दर्य का प्रतिपादन। शिवत्व एक प्रकार से मानसिक समृद्धि का सहायक है और सत्य तथा सौन्दर्य द्वारा भौतिक उत्थान की सम्भावना मानी जा सकती है।

क्या साहित्य के शाश्वत मूल्य सम्भव हैं

साहित्य के शाश्वत मूल्यों पर विचार करते समय हमारे सम्मुख एक मूलभूत प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या साहित्य के मूल्य वस्तुतः शाश्वत होते हैं? क्या वे मूल्य काल-सापेक्ष नहीं होते? क्या वर्तमान युग में लिखे जा रहे साहित्य और आज से शताब्दियों पश्चात् लिखे जाने वाले साहित्य के प्रतिमानों में कोई अन्तर नहीं आएगा? इन प्रश्नों का एक ही निर्विवाद उत्तर है कि साहित्य के मूल्य काल-सापेक्ष न होकर जीवन-सापेक्ष होते हैं। जितने अंश में जीवन की प्रकृति परिवर्तित होती है उतने ही अंश में वह शाश्वत सत्य भी बदला हुआ दृष्टिगत होता है। लेकिन शाश्वत सत्य, जब तक जीवन है, बना रहता है।

साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय-पक्ष से है—और हृदय में विविध भावों का निवास है। मानव-हृदय के ये भाव अनादि काल से चले आ रहे हैं और युग-युगों तक इसी प्रकार रहेंगे। अतः इन शाश्वत भावों की अभिव्यक्ति होने के कारण साहित्य के मूल्य भी शाश्वत होते हैं।

उपसंहार

अब तक किये गये विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्थूल रूप से साहित्य के तीन शाश्वत मूल्य हैं—सत्य की अभिव्यक्ति लोक-कल्याण की भावना और सौन्दर्य का प्रतिपादन।

प्रायः सभी विद्वानों ने शब्द-भेद से इन्हीं को शाश्वत मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। पाश्चात्य विचारकों ने इन्हें Truth, Goodness and Beauty द्वारा अभिहित किया था - इधर भारतीय विद्वानों ने इनकी प्रतिष्ठा सत्यं शिवं सुन्दरम् के रूप में की है।

प्रश्न केवल यह है कि साहित्य के इन तीनों मूल्यों का समान महत्त्व है अथवा इनमें से किसी एक की उपेक्षा की जा सकती है? अर्थात् क्या साहित्य में इन तीनों मूल्यों की सहस्थिति अनिवार्य है अथवा किसी कृति में इनमें से एक तत्व रहता है और अन्य में दूसरा? क्या इनमें से एक का अभाव साहित्य के अस्तित्व में बाधक होगा? इन सभी प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट है जब हम इन तीनों तत्वों को साहित्य के 'शाश्वत' मूल्य मानते हैं तब यह निश्चित है कि प्रत्येक साहित्य-रचना में इनकी यह-स्थिति रहती है। 'शाश्वत' शब्द का अर्थ है ही जो अनादि काल से अनन्त काल तक विद्यमान रहे अतः यदि हम इन्हें साहित्य के शाश्वत मूल्य मानते हैं तो प्रत्येक कृति में इनका होना अनिवार्य हो जाता है। इन तीनों का समंजन होने पर ही किसी रचना में साहित्य का गुण आ पाता है और समाज में उसका समादर होता है "महान् साहित्यकारों ने अब से सैकड़ों-सहस्रों वर्ष पूर्व वे बातें लिखी हैं जो आज भी सत्य, शिव (कल्याण) और सौन्दर्य से सम्पन्न होकर संसार का महान् हित-साधन कर रही हैं और अति आनन्ददायिनी बनी हुई हैं।"[1]

यद्यपि साहित्य में तीनों तत्वों का पाया जाना आवश्यक है, तथापि समय-समय पर लिखे जाने वाले साहित्य में इन तीनों तत्वों की मात्रा और प्रकार का अन्तर हो सकता है। उदाहरण के लिए भक्तियुगीन साहित्य में मात्रा की दृष्टि से शिवत्व और प्रकार की दृष्टि से उसकी अध्यात्मपरकता का प्राधान्य रहा, जबकि आधुनिककालीन प्रगतिवाद साहित्य में आधिक्य तो शिवत्व का ही रहा, पर प्रकार की दृष्टि से वह भौतिकता की ओर झुक गया।

हिन्दी-भाषा के साहित्य में सम्भवतः एक ही अपवाद दिखाई देता है—और वह है प्रयोगवाद। प्रयोगवादी काव्य में इन तीनों तत्वों का बहिष्कार है। (यद्यपि प्रयोगवाद के समर्थक कवि और आलोचक इस तथ्य से सहमत नहीं हैं, फिर भी सत्य तो मानना ही पड़ेगा।) साहित्य के इन शाश्वत मूल्यों को ग्रहण न करने के कारण ही प्रयोगवादी साहित्य न तो चिरस्थायी है और न ही उचित समादर हो सका है।

---

१ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', वर्ष १२, अंक १७ में डा० हरिशंकर शर्मा के विचार, पृ० ५

२

कला कला के लिए या लोकहित के लिए

डॉ० शत्रुघ्न

'कला' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विचार हैं। कुछ विचारक 'कला' का सम्बन्ध 'कल' शब्द से जोड़ते हैं। कल का अर्थ होता है—सुन्दर, कोमल, मधुर और सुखद। कुछ विचारक इसका सम्बन्ध 'कल्' धातु से स्थापित करते हैं। कल् का अर्थ होता है—शब्द करना बजना और गिनना। कुछ लोग इसे 'कड्' धातुसे सम्बन्धित करते हैं। कड् का अर्थ है—मदमस्त करना, प्रसन्न करना। और कुछ लोग 'कं' से सम्बन्ध जोड़ते हैं। 'कं आनन्दं लाति इति कला'। डा० भोलानाथ तिवारी के अनुसार" कला शब्द का कदाचित् सबसे प्रथम (और प्रामाणिक) प्रयोग भरत के नाट्य शास्त्र में मिलता है"—[1]

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला (१.११३) यहाँ भरत मुनि ने कला का प्रयोग ज्ञान, शिल्प तथा विद्या से पृथक् अर्थ में किया है। इसकी व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने 'कला गीत वाद्यादिका' लिखा है। कदाचित् गीतः वाद्य एवं नृत्य का वाचक माना है। आचार्य दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में लिखा है—नृत्यगीतप्रभृतयः कला कामार्थ संश्रयाः (३-१६२) अर्थात् नृत्य-गीत आदि कलाएँ कामाश्रय कलाएँ हैं। इससे यह अनुमान होता है कि कला के अन्तर्गत नृत्य, गीत तथा संगीत का समावेश रहा है जो सुखद हैं। प्रसाद जी ने क्षेमराज के विचार को रखा है। क्षेमराज ने 'शिव-सूत्र-विमर्शिनी' में लिखा है—

"कलयति स्व-स्वरूपावेशेन तत्रद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापारः। इस पर टिप्पणी है—

कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला—अर्थात् नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।"[2] यहाँ आत्माभिव्यंजना को कला मानकर बहुत व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया गया है। दूसरे स्थान पर क्षेमराज ने लिखा है—

१. कला-सम्मेलन पत्रिका-कला अंक, पृ० १६
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध-प्रसाद, पृ० ४३, चतुर्थ संस्करण

विश्रान्तिर्यस्यसंभोगे सा कला न कलामता ।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला । (शिव स्वरूप वि०)

अर्थात् जिस कला के आस्वाद से केवल विश्रान्ति उत्पन्न हो वह कला मर्मज्ञों की दृष्टि से कला कहलाने योग्य नहीं है। वास्तविक कला वह है जो दर्शक के चित्र को परमानन्द में लीन कर दे।"[1] क्षेमराज का यह दृष्टिकोण बाद के कला विकास का परिचायक है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ललिता स्तवराज और शैव सिद्धान्त के अनुसार कला को महामाया का चिन्मय विलास और महामाया की सम्मूर्तन शक्ति माना है। इन्होंने लिखा है कि "कला माया के पांच कंचुकों या आवरणों में से एक कंचुक या आवरण होती है। काल-नियति-राग-विद्या कला से माया के पांच कंचुक हैं। इन्हीं से शिवरूप व्यापक चैतन्य आवृत होकर अपने को जीवात्मा समझने लगता है। × × × वह छोटी-मोटी वस्तु के बनाने में रस पाने लगता है—यही कला है। यह माया का पांचवां कंचुक है, अर्थात् वह माया की रूप विधायिनी शक्ति है।"[2] . इसी से डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने बताया है कि "मन के सूने प्रदेश को भावों से और लोक को मूर्त रूपों से भरना यही कलात्मक सृष्टि है। × × × स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नाट्य, संगीत इनके रूप-सुधर्मा सभा में देवों की तरह-प्रत्यक्ष दर्शन देने लगते हैं, और उनके समवाय से कला का भवन जगमगाने लगता है।"[3] . तात्पर्य यह कि कला रूप विधायिनी शक्ति है। इसी शक्ति का प्रत्यक्षीकरण स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नाट्य और संगीत में होता है। स्मरण रहे कि इसमें काव्य शामिल नहीं है। वैसे क्षेमराज की व्यापक परिभाषा के अनुसार काव्य भी शामिल हो सकता है। अमरकोष के अनुसार भी कला में संगीत (नृत्य, वाद्यादि) और शिल्प (स्थापत्य, मूर्त्ति, तक्षण और चित्रकला) दोनों ही समाहित हैं। "कला शिल्पे संगीत भेदे च।" इसमें काव्य नहीं है।

जीवन को सुखी तथा समृद्ध करने के लिए इस कला का विविध रूप विकास हुआ। वात्स्यायन के कामसूत्र में ६४ कलाओं का वर्णन है। इन ६४ कलाओं में गीत, वाद्य, शयनरचना, भूषण भोजन से लेकर व्यायामिकी विद्याज्ञान तक सम्मिलत हैं। इनमें काव्य या साहित्य से सम्बन्धित नाट्य, काव्य समस्यापूर्ति, मानसी काव्य क्रिया और अभिधान कोष (छंदज्ञान) भी हैं। पर सम्पूर्ण रूप में काव्य नहीं है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी और बाबू गुलाबराय काव्य को कला नहीं मानते। प्रसाद जी के अनुसार "काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य समस्या-पूरण भी एक कला है; किन्तु वह समस्या पूर्ति कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल मात्र समझी जाती थी। कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में

---

१. भारतीय कला के पदचिह्न—डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० १२६-१२७ प्रथम सं०
२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृष्ठ ९–१० संस्करण १९५३
३. कला और संस्कृति—पृष्ठ २३०–२३१ द्वितीय संस्करण

लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं ।"[1] शुक्ल जी के अनुसार भी हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौंसठ कलाओं में नहीं की गई है । इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाये जाने पर भी इस प्रकार का वितंडावाद नहीं खड़ा किया गया ।"[2]

प्रसिद्ध कलाविद् रायकृष्णदास जी कला और काव्य को सम्बद्ध मानते हैं । जबकि डा० श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' में हेगेल के सिद्धान्त के आधार पर ललित कलाओं का विभाजन करते हुए काव्य को सूक्ष्मतम कला माना है । पर इन्होंने भारतीय चिन्तन के प्रमाण के आधार पर काव्य और कला को एक माना है । वैसे क्षेमराज का कला सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण का परिचय मिल चुका है । इन्होंने आठवीं सदी के विवरण धर्मोत्तर पुराण का सुपुष्ट आधार ग्रहण किया है । इन्होंने लिखा है कि "इसमें यह विशेषता है कि काव्य (श्रव्य तथा दृश्य), गान, नृत्य-अभिनय, चित्र और मूर्ति को कलाओं की एक इकाई मानकर उनके प्रकरण एक ही ठिकाने दिये गये हैं । × × × यह बात निर्विवाद हो जाती है कि उक्त कलाओं का उद्देश्य भी रसों की अभिव्यक्ति ही है तब हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हमारे यहाँ की काव्यवाली उक्त परिभाषाएँ, जो तत्वतः एक ही हैं, कला की ही व्यापक परिभाषा का एकदेशीय रूप हैं ।"[3] इनके अनुसार कला और काव्य की व्यापक परिभाषा कृति रसात्मिक का कला "या" रमणीयार्थ प्रतिपादिका कृतिः कला "समुचित है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चिन्तन में ही कला सम्बन्धी दोनों दृष्टिकोण मौजूद हैं । पहला दृष्टि कोण कला को रूप विधायिका शक्ति-सामान्य भौतिक उपयोगिता एवं सुखप्राप्ति के लिए मानना है । इस रूप में कला उपविद्या है । काव्य विद्या है । सूक्ष्मतम आनन्दानुभूति या रसानुभूति के लिए काव्य की मान्यता है । इस रूप में कवि शिल्पी और कलाकार से ऊँचा है । पर प्रतीत होता है कि आगे चलकर स्थूल उपयोगिता के बदले सूक्ष्मता और रसमयता को स्थान देकर कला को काव्य के निकट पहुँचा दिया गया है ।

डॉ० वासुदेवशरण ने कला और साहित्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "भारतवर्ष में साहित्य ने कला के रूप को समृद्ध किया है, और कला ने साहित्य की व्याख्या की है । इनका पारस्परिक सम्बन्ध हमारी संस्कृति का एक अन्यंत विशिष्ट और रमणीय पक्ष है ।"[4] डा० जगदीश गुप्त ने बताया है कि "साहित्य जीवन की शब्दमय व्यंजना है और कला रूपमय ।"[5] और सम्मेलन पत्रिका के कला अंक के सम्पादकीय में बताया गया है कि "साहित्य और कला का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । ऐसा प्रतीत होता है कि लोकजीवन की

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ ३१.
२. चिन्तामणि–द्वितीय भाग; पृष्ठ १८० द्वितीय संस्करण
३. साहित्य समीक्षाञ्जलि कला की भारतीय परिभाषा, पृष्ट २–३, द्वितीय सं०
४. कला और संस्कृति, पृष्ठ २४३.
५. भारतीय कला के पदचिह्न, पष्ठ १००

रसभरी प्रेरणा ने साहित्य और कला दोनों को एक साथ उत्पन्न किया है । इसलिए साहित्यकार को कलाकार होना है और कलाकार को साहित्यकार होना बहुत आवश्यक है ।'' तात्पर्य यह कि दोनों में निकट का सम्बन्ध है, पर दोनों एक नहीं हैं । तथापि हमने पश्चिम के प्रभाव से कला को उपयोगी कला और ललित कला में विभाजित कर काव्य को ललित कला का अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ भेद स्वीकार कर लिया है । हमने भी काव्य कला कहना शुरू कर दिया है । अव यह विचार करना है कि यह काव्यकला कला के लिए है या लोकहित के लिए ।

प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने काव्य की आत्मा पर गहराई के साथ विचार करते हुए काव्य के प्रयोजन पर भी विचार किया है । यूरोप के समान भारत में काव्य के प्रयोजन पर 'कला कला के लिए या लोक हित के लिए'—विशेप मतभेद नहीं रहा है । इसके लिए वग निर्माण या आन्दोलन नहीं चला है । काव्य की आत्मा को लेकर युगों तक चिन्तन-मनन चलता रहा है । इसको लेकर अनेक सम्प्रदाय संघटित हुए हैं । अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और रस सम्प्रदाय की रचना काव्य की आत्मा से सम्बन्धित है । आधुनिक युग में यूरोप के प्रभाव के कारण अवश्य ही काव्य के प्रयोजन को लेकर आन्दोलन चले हैं और चल रहे हैं । अस्तु, पहले हम प्राचीन साहित्यशास्त्रियों के प्रयोजन सम्बन्धी विचार को समझें । ईसा से कई सौ वर्ष पहले ही भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रसानुभूति को नाटक का परम लक्ष्य मान कर अन्य प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है । वे कहते हैं—

वेदविद्येतिहासानामाख्यानं परिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।
श्रुति स्मृति सदाचार परिशेषार्थ कल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

अर्थात् वेद विद्या, इतिहास, कथा आदि समग्र साधनों का एकत्रीकारण करके सब लोगों का एक साथ मनोरंजन करने वाला नाटक होता है । इसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ विनोद का भी सम्मिश्रण होता है । इससे स्पष्ट होता है कि लोक का सात्विक मनोरंजन नाटक का एक प्रयोजन था ।

आचार्य भामह (छठी शताब्दी) ने 'काव्यालंकार में' चतुर्वग के साथ कलाकुशलता, प्रीति और कीर्ति को भी काव्य का प्रयोजन माना है । यथा—

धर्मार्थकाममोक्षेष, वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिञ्च साधुकाव्य निषेवणम् ।।(१।२)

आचार्य वामन (नवीं शताब्दी) ने 'काव्यालंकार सूत्र में आनन्द और यश को काव्य के प्रयोजन बताये हैं ।

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात् (१।१।५) आचार्य मम्मट (११वीं शताब्दी) ने 'काव्य प्रकाश' में आनन्द को ही मूल प्रयोजन माना है । साथ ही वाच्य व स्थूल प्रयोजन के रूप में यश, धन, व्यावहारिकता, अनिष्ट निवारण, आनन्द-प्राप्ति और

कांता सम्मित उपदेश को भी स्वीकार किया है। मध्यकाल में भक्तिकवि तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा.........' कह कर स्वान्तः सुखाय अर्थात् आत्मिक सुख-सन्तोष को प्रयोजन सिद्ध किया, पर उससे पूरे समाज का लोक हित का प्रयोजन सिद्ध हुआ। इन विविध विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द रहा है और लोक पर दृष्टि केन्द्रित रही है। लोक उपेक्षित नहीं रहा है। नाटककार और कवि क्रमशः प्रेक्षक तथा पाठक को सामने रख कर काव्य की आत्मा और प्रयोजन पर विचार करते हैं। मम्मट के छह प्रयोजनों में आनन्द, अनिष्ट निवारण तथा कान्ता सम्मित उपदेश सहृदय पाठकों के लिए प्रस्तुत हैं। स्वान्तः सुखाय लिखने वाले तुलसी ने भी पूरे समाज का लोक हित के लिए मानस को प्रस्तुत किया। कवि का स्व विनयपत्रिका में है, पर कवि की समष्टि-दृष्टि मानस में है, यह निर्विवाद सत्य है।

आधुनिक युग में हिन्दी के कवियों, कथाकारों तथा समालोचकों ने काव्य के प्रयोजन पर विचार किया है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'पद्य-प्रबन्ध' में सद्भाव-संचार, कांता सम्मित उपदेश तथा लोकहित को काव्य का प्रयोजन माना है।[1] गुप्तजी पर आ० मम्मट तथा आधुनिक मानवतावाद के प्रभाव स्पष्ट हैं। जयशंकर 'प्रसाद' ने लिखा है कि "काव्य की धारा लोकपक्ष से मिल कर अपनी आनन्द-साधना में लगी रही।"[2] अर्थात् लोकपक्ष से समन्वित आनन्द-साधना ही काव्य का प्रयोजन है। इस तरह प्रसादजी ने भारतीय रस परम्परा के सर्वमान्य एवं समन्वयपूर्ण रूप को प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। रस-परम्परा में कवि तथा सहृदय पाठक दोनों ही आनन्दानुभूति में सम्मिलित किये जाते हैं। और इस रसानुभूति का प्रमुख अंग विभाव होता है जिसमें सारा वाध्यपरिवेश—लोक शामिल हो जाता है। अतः यह आनन्द साधना लोकपक्ष से असम्पृक्त नहीं होती। स्थूल उपयोगिता से अवश्य ही असम्पृक्त होती है। पन्तजी ने कहा है कि "स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्वों से ओत-प्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानवचेतना के आलोक को वितरण कर एवं लोक जीवन को बाहर-भीतर से संस्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने में सहायक हों।"[3] पन्तजी ने स्पष्ट रूप से कला को लोकहितार्थ एवं नवसंस्कृति रचनार्थ माना है। इस लोक-हित को सांस्कृतिक स्तर प्रदान कर स्थूलता तथा राजनीति से बचाने का प्रयत्न किया है जो स्तुत्य है। दिनकर जी ने आनन्द के साथ युगधर्म को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।[4] इस आनन्द में भी कवि एवं पाठक दोनों शामिल हैं। युगधर्म अपने समय के लिए लिखना—के पालन में लोक सापेक्ष दृष्टि स्पष्ट है।

छायावादी कवियों को व्यक्तवादी तथा पलायनवादी कहा गया है। इसी की प्रतिक्रिया में समष्टिवादी प्रगतिवाद का आविर्भाव माना जाता है। पर उपर्युक्त उद्धरणों तथा

---

१. पद्य प्रबन्ध, पृष्ठ ६२.
२. काव्य और कला ....पृष्ठ ७०
३. गद्य पथ, पृष्ठ २०४
४. रेती के फूल

समग्र छायावादी काव्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि छायावाद का लोक पक्ष विशुद्ध सांस्कृतिक धरातल पर स्थापित है । नये सौन्दर्य बोध, सांस्कृतिक दृष्टि तथा लाक्षणिकता से परिपूर्ण काव्य कला के कारण छायावाद अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों में अपना उत्कर्ष दिखाने में समर्थ हो सका । वैयक्तिकता तथा कला पर विशेष ध्यान रहने पर भी लोकपक्ष उपेक्षित नहीं हुआ । प्रसाद, पन्त तथा निराला के काव्य में लोकपक्ष समाविष्ट है । द्विवेदी युग के काव्य में तो लोकहित ही प्रमुख प्रयोजन है । पर प्रगतिवाद में यह लोकहित स्थूल रूप में—राजनीतिक मतवाद के आधार पर दिखायी पड़ा । वैसे अंचल जी ने कहा है," यदि साहित्य वह सच्चे अर्थों में प्रगतिशील है सदैव जीवन को अधिकाधिक निकट से देखेगा और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर जोर देगा ।"[1] इससे कोई इन्कार नहीं कर सकेगा पर प्रगतिवादी काव्य हँसिया-हथौड़ी, लालसेना तथा मास्को का गीत गाने लगा । लोकहित के इस दुरुपयोग के कारण इस वाद की अकाल मृत्यु हो गयी । प्रयोगवाद आधमका जिसमें वैयक्तिकता तथा नयी कला का नवीन प्रयोग आरम्भ हुआ । एक तरह का कलावाद ही आविर्भूत हुआ । पर सिद्धान्त के रूप में लोकपक्ष का तिरस्कार नहीं किया गया और न लोकहित को प्रयोजन के रूप में मानने वाले तिरस्कृत हुए । तथापि इस काव्य में कुण्ठा, अनास्था, विघटन एवं विसंगति की वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही व्यक्त हुईं । लोकपक्ष बहुत कुछ दब गया । इनका स्वान्तः सुखाय वस्तुतः वैयक्तिकता—प्रेरित है । अज्ञेयजी कहते हैं; "कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए नहीं होता सच्चे अर्थ में स्वान्तः सुखाय भी होता है ।"[2] साथ ही धर्मवीर भारती का भी कथन है जिसमें लोक-पक्ष का ध्यान विद्यमान है । लिखते में है, "मैं अपना पथ बना रहा हूँ । जिन्दगी से अलग रह कर नहीं, जिन्दगी के संघर्षों को झेलता हुआ, उसके दुःख-दर्द में एक गम्भीर अर्थ ढूँढ़ता हुआ और उस अर्थ के सहारे अपने को जनव्यापी सच्चाई के प्रति अर्पित करने का प्रयास करते हुए ।"[3] नई कविता में भी उपर्युक्त वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ ही अभिव्यंजित हो रही हैं । सेक्स सम्बन्धी आम पीड़ा, कुण्ठा तथा प्राचीन मूल्यों के प्रति-अनास्था की अभिव्यक्ति प्रमुख है । कविता भी इसी पथ पर है । लोकहित उपेक्षित हो रहा है । वैसे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन एवं नवीन के द्वन्द्व, असन्तोष तथा विद्रोह की अभिव्यक्ति में लोकपक्ष उपेक्षित नहीं है । पर इस द्वन्द्व, अनास्था तथा कुण्ठा में वैयक्तिकता प्रबल है और कला में चमत्कार । इसी काल में दो आक्रमणों तथा युद्धों के मध्य संघर्ष, बलिदान तथा आत्म विश्वास की कविताएँ लिखी गयी हैं । माखनलाल चतुर्वेदी, नेपाली, दिनकर आदि की लेखनी ने लोकहित-देशहित की किरण को उगा दिया है । पर वैयक्तिक कविता का प्रवाह ही प्रबल है जिस पर पश्चिमी प्रभाव निर्विवाद है । अस्तित्ववाद का प्रभाव स्पष्ट है ।

यह कहा जा चुका है कि यूरोप में कला के प्रयोजन पर अत्यधिक विचार हुआ है । तत्सम्बन्धी वाद तथा आन्दोलन चले हैं । एक-दूसरे की प्रतिक्रिया अविराम चलती रही है । कला

---

१. किरण बेला, भूमिका, पृष्ठ 'ख'

२. त्रिशंकु, पृष्ठ २६.

३. ठण्डा लोहा, पृष्ठ ८.

कला के लिए या लोकहित के लिए, नामक विवाद यूरोपीय मानस-मन्थन का ही परिणाम है। डा० सोमनाथ गुप्त ने लिखा है कि "सम्भवतः धर्म (ईसाई) के प्रचार में जो कला का इतना उपयोग हुआ उसी की प्रतिक्रिया के रूप में 'कला धर्म के लिए' न होकर 'कला कला के लिए' हो गई।"[1] यह वाद कांट और हेगेल से पोषित होकर वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड, क्लाइव वेल और ब्रेडले द्वारा संवर्द्धित हुआ। इसके अनुसार कला का सौन्दर्य ही कला की उपयोगिता है। जीवन या नैतिकता से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। डा० ब्रेडले के अनुसार सौन्दर्यानुभूति स्वयं साध्य है। इस तरह इस वाद ने धर्म तथा रस्किन के नीतिपरक सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया में जीवन से निरपेक्ष कला-वाद को जन्म दिया। जीवन की उपेक्षा की। जब विज्ञान ने अपने आविष्कारों के द्वारा भौतिक समृद्धि के साथ मानवीय गुणों तथा मानवीय सभ्यता पर प्रहार किया तो रस्किन, टॉल्सटॉय आदि ने धर्म से अनुप्राणित मानववाद को प्रस्तुत किया। कला को जीवन से सम्बद्ध किया। कला को जीवन के लिए उपस्थित किया। टॉल्सटॉय ने 'ह्वाट इज आर्ट' में धर्म से अनुप्राणित लोकार्थ कला का विश्लेषण किया है कि कला का उद्देश्य बुद्धि के क्षेत्र से भाव के क्षेत्र में उस सत्य को लेजाना है जो कि यह बतलाता है कि मनुष्यों का कल्याण उनके एक होकर रहने में तथा ईश्वर के राज्य के स्थापित करने में है जो कि प्रेम पर आश्रित है और जिसको हम जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। इस वाद के द्वारा कला जीवन के निकट आयी। मानव कल्याण की चेतना प्रमुख प्रेरणा बनी। साथ ही विज्ञान के विकास—प्राणिशास्त्रीय मान्यता से प्रेरणा पाकर प्रकृतवाद का जन्म हुआ जिसके प्रमुख कलाकार जोला और मोपासाँ थे। यह वाद प्राकृतिक मनुष्य का उसकी सहज पशु प्रवृत्तियों का चित्रण करता है। फलस्वरूप साहित्य में सेक्स का नैतिक अनैतिक स्तर छोड़कर चित्रण होने लगा। यह वाद लोक सापेक्ष होकर भी लोकहित की हानि करने लगा। साथ ही साथ एक दूसरा वाद भी शुरू हुआ जिसे प्रतीक-वाद कहते हैं। यह वाद कलावाद के समान ही सौन्दर्य-वादी एवं व्यक्तिवादी है। पो, मलार्मे एवं वादिलेयर इसके प्रमुख स्तम्भ रहे हैं। और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी कलावादी आन्दोलन रहा है। समाज तथा समय से निरपेक्ष रहकर मात्र अभिव्यंजना पर जोर दिया है। बिम्बवाद भी कलावादी आन्दोलन है।

कलावादी तथा लोक साक्षेपवादी वादों के मध्य मार्क्सवाद का आगमन हुआ। इसने कला को जीवन से ही सम्बद्ध नहीं किया अपितु राजनीति पर आधारित भी कर दिया। मार्क्सवाद के अनुसार राजनीति के समान साहित्य को भी वर्गभेद और आर्थिक वैषम्य से मुक्त समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करना चाहिए। साम्यवादी क्रान्ति में सहयोग देना चाहिए। कला में लोकहित की चेतना अभिनन्दनीय है, पर कला को राजनीति का अनुचर बनाना उचित नहीं है। मार्क्सवाद में यही हुआ। प्रगतिवाद के नाम से हिन्दी में यह आया। अन्याय शोषण तथा विषमता के खिलाफ आवाज बुलन्द करते हुए किसान-मजदूरों को दुःख-दर्द को वाणी दी। साथ ही लालसेना तथा मास्को की प्रशस्ति की। प्रगतिवाद के नाम पर पहले के सम्पूर्ण साहित्य को अस्वीकृति करने का साहस किया। परिणाम अच्छा नहीं हुआ। कला की

१. समालोचक-सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक, पृष्ठ ३७

राजनीतिक दासता बांछनीय नहीं है। यह आन्दोलन कमजोर पड़ गया। सार्व और कीर्कगार्ड का अस्तित्ववाद सामने आया है। व्यक्ति की स्वाधीनता, अस्तित्व-चिन्तन, पुराने मूल्यों के संघर्ष को लेकर यह वाद वैयक्तिक चेतना को ही प्रमुखता दे रहा है। क्षणवाद, पलायन, सेक्सीय कुण्ठा, जीवन की व्यर्थता आदि की अभिव्यक्ति हो रही है। इस तरह लोकहित का सांस्कृतिक एवं कलात्मक रूप सद्यःविद्यमान मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद में दृष्टिगत नहीं होता। एक में लोकहित का वादग्रहस्त एवं राजनैतिक रूप दिखायी पड़ता है। दूसरे में लोक-हित का सूक्ष्म चेतना है जो वैयक्तिकता पर आधारित है। वैयक्तिकता तथा कला चमत्कार की ही प्रधानता है।

मनुष्य ने यदि ईश्वर को बनाया तो मनुष्य के हित के लिए ही। स्वर्ग और नरक की कल्पना भी मनुष्य के हित के लिए ही की। आज राजनीति एवं अर्थ नीति की प्रधानता है तो वह भी एकमात्र मानवता के कल्याण के लिए ही है। कला का जन्म मनुष्य के द्वारा मनुष्य के मध्य होता है, वह लोक निरक्षेप कैसे रह सकती है! यह सही है कि काव्यकला स्थूल उपयोगिता या स्थूल भोगवादी भोग के लिए नहीं है। यह मनुष्य की विशिष्ट प्रतिभा अनु-भूति तथा कल्पना की उपज है। यह नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा कामशास्त्र और धर्मशास्त्र के ऊपर की चीज है। अतः कला इन शास्त्रों की अभिव्यक्ति न बने। जीवन में यह सब मान्य है। कला में भी इनका स्थान होगा। पर कला की सृजना इन्हीं के लिए नहीं होगी और न इनसे सर्वथा असम्पृक्त ही रह सकेगी। मानसिक एवं आत्मिक आनन्द के लिए सौन्दर्य की सृष्टि लोक सापेक्षता के साथ होगी। लोकहित सांस्कृतिक एवं कलात्मक धरातल पर सम्पन्न हो। शिव सौन्दर्य-सरोज के कोष में मकरन्द के समानमुस्करायें। बिना सुरभि का सरोज तो व्यर्थ ही होगा। अतः कला कला के लिए नहीं, कला लोकहित के साथ हो। कला शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति हो। प्रसाद, प्रेमचन्द्र जैनेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र ने कला को इसी रूप में स्वीकार किया है।

—०—

३

काव्य का स्वरूप, लक्षण एवं भेद तथा उनका मनुष्य से रागात्मक सम्बन्ध

प्रो० देवीप्रसाद गुप्त

डा० श्यामसुन्दरदास ने एक स्थान पर लिखा है कि—"काव्य का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है।"[1] उन्होंने साहित्य शब्द की परिभाषा देते हुए भी उसे भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों का संग्रह या समष्टि रूप कहा है। यह स्पष्ट है कि साहित्य और काव्य में तात्विक दृष्टि से समानता है। काव्यशास्त्र में प्राचीन आचार्यों द्वारा काव्य शब्द का प्रयोग साहित्य के अर्थ में हुआ भी है। विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय पद्य में ही रचित एवं प्राप्य है। गद्य का प्रचुर विकास और प्रसार तो आधुनिक युग की देन है। आज साहित्य शब्द से गद्य-पद्य में विरचित समस्त वाङ्मय का बोध होता है; जबकि काव्य शब्द के अन्तर्गत केवल वही रचनाएँ सम्मिलित की जाती हैं जो छंदबद्ध, रसपूर्ण तथा भावोद्दीपन की तीव्रता लिये रहती हैं। कविता में साहित्य के अन्य सभी रूपों की अपेक्षा भावोद्बोधन तथा हृदय को प्रभावित करने की सबसे अधिक शक्ति होती है। भावों की जितनी सशक्त, सजीव और निर्बंध अभिव्यक्ति काव्य के द्वारा सम्भव है उतनी अन्य साहित्य रूपों द्वारा नहीं। काव्य में मानव जीवन की संवेदनाएँ और सद्वृत्तियां (प्रेम, करुणा, दया, ममत्व आदि) को मुखरित करने की विलक्षण सामर्थ्य होती है। यही कारण है कि काव्य साहित्य का विशिष्ट अंग माना जाता है।

साहित्य की भांति कविता की भी अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। किन्तु साहित्य की भांति कविता (काव्य) की भी कोई सर्वाङ्गीण परिभाषा निश्चित नहीं हो सकी है। इस अभाव का कारण काव्य शब्द की व्यापकता के साथ-साथ प्रारम्भावस्था से आज तक कविता की व्यंजना प्रणालियों, प्रवृत्तियों, प्रेरक-शक्तियों और शिल्प-विधियों में निरन्तर परिवर्तन (विकास) है। काव्य का विवेचन करते समय भारतीय काव्याचार्यों ने काव्य के शरीर (कलापक्ष) और आत्मा (भावपक्ष) दोनों पर ही ध्यान दिया है। फिर भी संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की रचना के किसी एक उपकरण को प्रमुखता दी है। और स्वयं द्वारा प्रतिपादित तत्व को काव्य की आत्मा (आत्म-तत्व) भी मान लिया है। काव्यात्मा के निर्माण में रस, रीति, ध्वनि

१. साहित्यालोचन—पृष्ठ ३६

अलंकार, वक्रोक्ति आदि को बल देने के कारण ही संस्कृत-साहित्यशास्त्र में रस, रीति, अलंकार, ध्वनि और वक्रोक्ति पांच सम्प्रदाय प्रचलित हो गये ।

अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों में भामह और दण्डी के नाम उल्लेखनीय हैं । उन्होंने काव्य के शरीर का प्रसाधन करने वाले अलंकारों को महत्ता दी है ।[2] रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा[3] बताते हुये श्रेष्ठ पद-रचना को रीति कहा है ।[4] और काव्य को वर्णन शैली के कारण ग्राह्य माना है । उनके अनुसार काव्यगत सौन्दर्य ही वर्णन शैली है ।[5] वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य कुन्तक के अनुसार विदग्धता पूर्ण अभिव्यंजना शैली ही काव्य का प्राण है ।[6] आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते थे ।[7] ध्वनिकार का कथन है कि जहाँ अभिधेयार्थ व्यंजना के कारण गौण हो जाता है वहीं रचना ध्वनि कहलाती है ।[8] ध्वनिवादियों की मान्यता थी कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता से काव्य में सौंदर्य और रमणीयता की वृद्धि होती है । इस सम्प्रदाय ने रस-सम्प्रदाय की भांति ही लोकप्रियता प्राप्त की । ध्वनिवादियों ने रस, रीति अलंकार आदि का भी ध्वनि से समन्वय स्थापति किया । विश्वनाथ और भरत मुनि रस-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं । विश्वनाथ ने तो रसमय वाक्य को ही काव्य की संज्ञा दी है ।[9]

इन सम्प्रदायों की स्थापनाओं को परवर्ती आचार्यों ने भी ग्रहण किया । उन्होंने सम्प्रदायगत विचारों के ही आधार पर काव्य शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ कीं । भामह ने काव्य में शब्द और अर्थ की अवस्थिति को महत्व दिया ।[10] रुद्रट ने भामह की ही परिभाषा की एक प्रकार से पुनरावृत्ति कर दी ।[11] मम्मटाचार्य ने दोषरहित, गुण- अलंकार युक्त तथा कभी कभी अलंकार सहित शब्दार्थ मयी रचना को काव्य कहा है ।[12] जगन्नाथ के

---

२. तैः शरीरं च काव्यनामलंकाराश्च दर्शितः ।
शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली ।। दण्डी-काव्यादर्श १।१०

३. रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन-अलंकारसूत्र

४. विशिष्ट पद रचना रीति—

५. काव्यं ग्राह्यामलंकारात सौन्दर्यमलंकार :—

६. "शब्दार्थो सहितो वक्र व्यापार शालिनी, बन्धे व्यवस्थितो—
काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी"—वक्रोक्तिजीवतम्—१।७

७. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति-ध्वन्यालोक

८. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थों ।
व्यक्तः काव्य विशेष सः ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः ।।
ध्वन्यालोक—१।१३

९. "वाक्यंरसात्मकं काव्यम्"
—साहित्यदर्पण—१।३

१०. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—भामह—काव्यालंकार—१।१६

११. ननु शब्दार्थौ काव्याम्—रुद्रट-काव्यालंकार

१२. तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुण वनलं कृति पुनःक्वापि—मम्मट (काव्यप्रकाश)

रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य माना है।[13] संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्य अनेक आचार्यों ने भी काव्य की ऐसी ही परिभाष दी हैं। जिनमें बहुत कुछ समानता दिखाई देती है।[14]

संस्कृत के काव्याचार्यों द्वारा दी गई काव्य की परिभाषाओं में काव्य की आत्मा के संधान का प्रश्न ही उनकी दृष्टि में प्रमुख रहा है। सम्प्रदायगत कट्टरता के कारण इन परिभाषाओं में काव्य के किसी पक्ष विशेष के प्रति आग्रह दिखाई देता है। इसी रूढ़ आग्रह के कारण परिभाषाएँ प्रायः अपूर्ण, एकांगी और परस्पर विरोधी हैं। फिर भी काव्य के विवेचन में इनका ऐतिहासिक महत्व है। इनके माध्यम से तत्कालीन काव्य के स्वरूप, लक्षण तथा आदर्शों को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। संस्कृत की काव्यांग विवेचन की परम्परा का हिन्दी की काव्य-रचना और काव्यशास्त्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। रीतिकालीन-काव्य इस दृष्टि से दृष्टव्य है।

संस्कृत भाषा के आचार्यों की भांति ही पाश्चात्य आचार्यों और कवियों ने भी काव्य की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि वडस्वर्थ के अनुसार कविता सशक्त भावों का उद्रेक है। जिसकी उत्पत्ति शांति के क्षणों में संचित अनुभूति से होती है।[15] कॉलरिज के शब्दों में सुन्दर शब्दों में भाव-चयन ही कविता है।[16] कवि शैली कल्पना की अभिव्यक्ति को कविता मानते हैं।[17] कार्लाइल कविता को संगीतमय विचार[18] और जॉनसन छन्दबद्ध रचना को कविता मानते हैं।[19] मैथ्यू ऑरनाल्ड के अनुसार कविता जीवन की समालोचना है।[20] हडसन ने कविता को कल्पना और भावना के माध्यम से जीवन की व्याख्या

---

१३. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्-जगन्नाथ-रसगंगाधर

१४. (अ) "अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्"

हेमचन्द्र-काव्यानुशासन

(ब) "निर्दोषा लक्षणवती स रीतिगुंण भूपिता।
सालंकार-रसानेक वृत्तिर्वाक्काव्यानामभाक्॥"

जयदेव-चन्द्रालोक

(स) "संक्षेपाद्वाक्य मिष्टार्थ व्यच्छिन्ना पदावली।
कायं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष-वर्जितम्॥"

व्यास-अग्निपुराण

15. "Poetry is spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquality.' Wordsworth

16. Poetry, the best words in best order—**COLERIDGE**

17. Poetry in general sense may be defined as the expression of imagination. **P B Shelley**

18. Poetry we will call musical thought. **CARLYLE**

19. Poetry is metrical Composition. **JOHNSON**

20. Poetry is at bottom Criticism of life. **ARNOLD**

कहा है।[21] मैकाले ने कविता को शब्दों की चित्रकला माना है।[22] इसी प्रकार की अन्य भी बहुत सी परिभाषाएँ दी गई हैं जिनमें कविता को कहीं संगीत, कहीं आनन्द, कहीं कलात्मक व्यंजना और कहीं सत्य और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कहा गया है।[23]

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य का कलात्मक और जीवनोपयोगी दोनों दृष्टियों से विश्लेषण किया है। पाश्चात्य काव्यादर्श में जीवन सब प्रकार से ग्राह्य रहा है। मैथ्यू आरनॉल्ड की परिभाषा इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य-रचना के चार तत्व माने हैं :—

१—भावतत्व (Emotional Element)
२—बुद्धि तत्व (Intellectual Element)
३—कल्पना तत्व (Imagination)
४—शैली तत्व (Style)

इन तत्वों में भारतीय काव्यशास्त्र के आधारमान त्रितत्व—सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का भी समाहार हो जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र के रस, रीति, अलंकार एवं गुणादि का भी इन तत्वों से समन्वय किया जा सकता है। भाव ही रस होते हैं। बुद्धि तत्व से विचार के अस्तित्व का बोध होता है जो सत्यं का प्रतिष्ठाता है। कल्पना काव्य का अनिवार्य उपकरण है। वह सौन्दर्य की विधायिनी शक्ति भी है। शैलीतत्व काव्य के अभिव्यंजना पक्ष (रीति, गुण, अलंकार) से सम्बन्धित है। इस संस्कृत काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की काव्य के अनिवार्य तत्वों एवं उपकरणों से सम्बन्धित मान्यताओं में विशेष अंतर नहीं है।

हिन्दी के कतिपय आचार्यों और कवियों ने भी कविता का स्वरूप निरूपण किया है। उनके काव्य विषयक दृष्टिकोण के निर्माण में पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों की विचारधाराओं का योगदान रहा है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है कि—"सादगी, असलियत और जोश यदि तीनों गुण कविता में हों तो

---

21. Poetry is interpretation of life through imagination and emotion.
HUDSON

22. "By Poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination. The art of doing by means of words what the painter does by means of Colours."

23. (a) Music when combined with pleasurable idea is poetry. **Poe**
(b) Poetry is intellect coloured by feelings. **Wilson**
(e) Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by Calling imagination to the help of reason **Johnson**
(d) Poetry is the Concrete & artistic expression of human mind in emotional & rythmical language." **DNUTON**

कहना ही क्या है । परन्तु बहुधा अच्छी कविता में एकाध गुणों की कमी पाई जाती है ।"[24] द्विवेदी जी के विचार अंग्रेजी के कवि मिल्टन से तुलनीय है ।[25] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई हैं, उसे कविता कहते हैं । इस साधना को हम भाव-योग कहते हैं तथा कर्म योग और ज्ञान योग के समकक्ष मानते हैं ।"[26] स्वर्गीय कवि श्री जयशंकर प्रसाद के अनुसार—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विकल्प या विज्ञान से नहीं है । वह एक श्रेयमयी प्रेय स्थनात्मक ज्ञानधारा है ।"[27]

हिन्दी के विद्वानों एवं कवियों द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषाओं में भी काव्य के तत्वों को लक्ष्यगत करके ही विवेचना की गई है । इधर पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क से काव्य सम्बन्धी मान्यताओं और विचारधाराओं में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं । हिन्दी काव्य-परम्परा में छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, स्वच्छन्दतावादी काव्यधाराओं का विकास प्रसार और प्रभाव इसके उदाहरण हैं । काव्य के परम्परित तथा स्थापित मान-दण्डों में युग की परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन होता भी रहा है । यह परिवर्तनक्रम सदैव ही प्रगतिशील रहा है । फलस्वरूप काव्य की परिभाषाएँ बनती और बदलती रही हैं । इसीलिये सर्वमान्य और सर्वकालीन परिभाषा का अभाव भी बना रहा है । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कविता मानव के मन-मस्तिष्क के मंथन का परिणाम है । कविता का सम्बन्ध व्यक्ति की रागात्मक अनुभूतियों (हृदय पक्ष) से सदैव रहा है और रहेगा । यह काव्य का चिरन्तन और अनिवार्य लक्षण है । कविता का स्वरूप आज (जैसा कि हिन्दी की नई कविता में दिखाई देता है) कुछ भी हो; उसके रूप विधान, शिल्प, भाषा, छन्द आदि सभी में परिवर्तन हो जाय, किन्तु उसके आत्म संठगन में अनुभूति तत्व की स्थिति अवश्यंभावी बनी रहेगी । अस्तु ! यह कहना अधिक संगत होगा कि काव्य **मानवीय भावनाओं की बौद्धिक अभिव्यक्ति है ।**

काव्य के भेद—स्थूल दृष्टि से काव्य, एक ओर पूर्ण है किन्तु मनोवृत्ति की भिन्नता के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप में भी भिन्नता आ जाती है । अभिव्यक्ति की यही भिन्नता काव्य रूपों के विकास की मूल प्रेरणा हैं । तात्विक दृष्टि से रूप-वैभिन्नय होते हुये भी सभी काव्य-रूपों में काव्यात्म-तत्व (अनुभूति) की स्थिति मूलतः एक ही है । काव्यविभाजन के विभिन्न आधार हैं—जैसे–बन्ध, व्यंजना, आनन्दानुभूति के माध्यम इत्यादि ।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के दो स्थूल भेद माने हैं—दृश्यकाव्य और श्रव्य काव्य । दृश्यकाव्य का सम्बन्ध नेत्रेन्द्रिय से है । रंगमंच पर अभिनीत होने वाले नाटकादि इसी श्रेणी

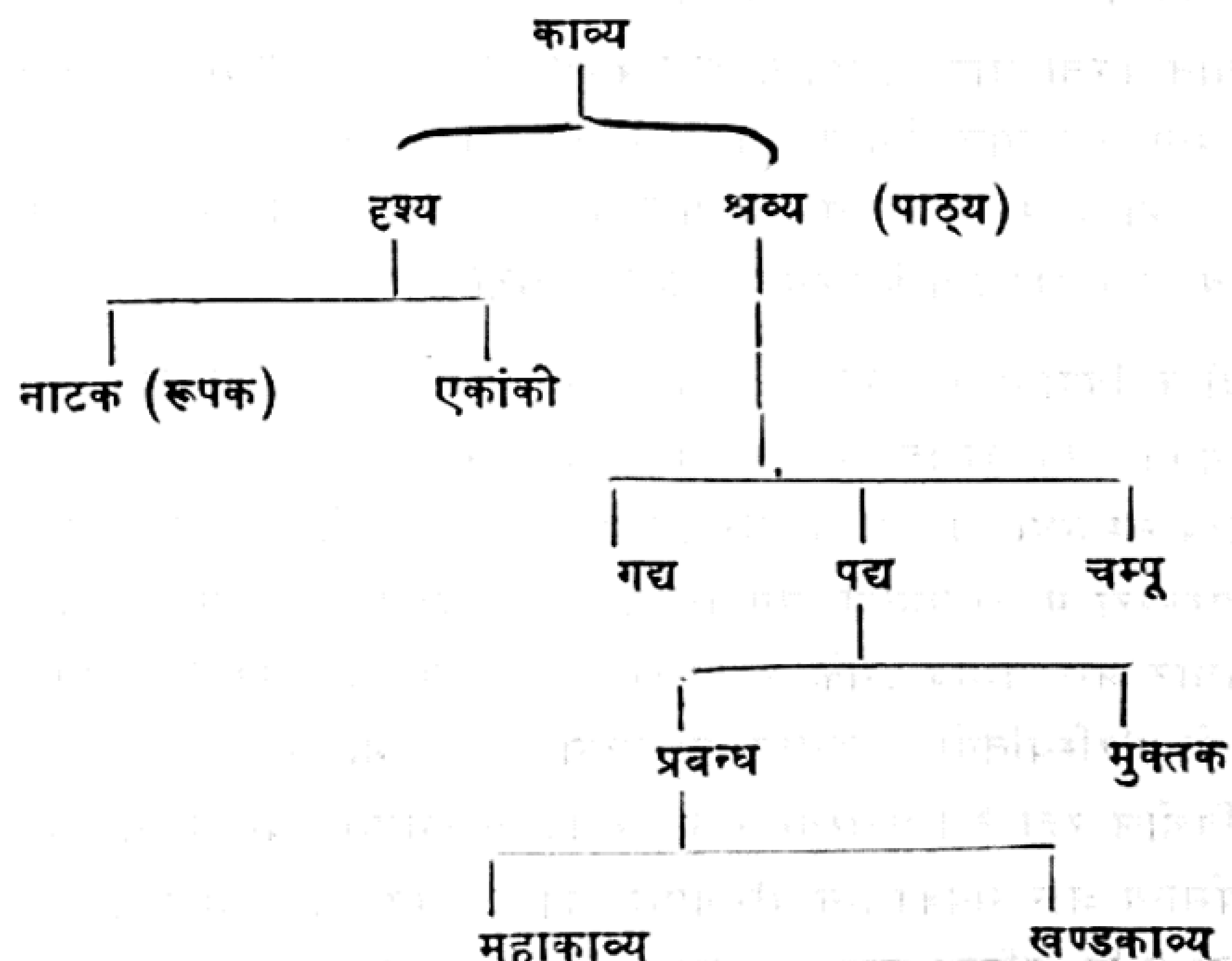
---

२४. "काव्य और कविता" शीर्षक निबन्ध

२५. Poetry must be simple, sensons & passionate, —Milton

२६. चिन्तामणि भाग–१–पृष्ठ १४६

के अन्तर्गत आते हैं। श्रव्यकाव्य को पाठ्य भी कहा जाता है। इसका रसास्वादन श्रवणेन्द्रियों द्वारा होता है। श्रव्यकाव्य पुनः भेदोपाभेद किये गये हैं जिन का रेखाचित्र निम्नांकित प्रकार से होगा—



पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य के दो प्रमुख भेद किये हैं :—

१—विषयीगत (Subjective Poetry)

२—विषय गत (Objective Poetry)

अ—विषयीगीत काव्य के उपभेद—

१—दार्शनिक एवं विचारात्मक गीत (Meditative hyrics)

२—सम्बोधन गीत (Ode)

३—दुखात्मक गीत (Elegy)

४—पत्रगीत (Epistle)

५—व्यंग्य गीत (Satire)

६—वणर्नात्मक गीत (Descriptive poetry)

आ—विषयगत काव्य के पुनः दो भेद किये गये हैं :—

(क) वर्णनात्मक कविता जिसके अन्तर्गत आते हैं :—

१—वीर गीत (Ballads)

२—महाकाव्य (Epic)

३—छंदवद्ध रोमांचकारी कथाएँ (Metrical Romance)

४—कविता में यथार्थवाद (Realigm in Romonce)

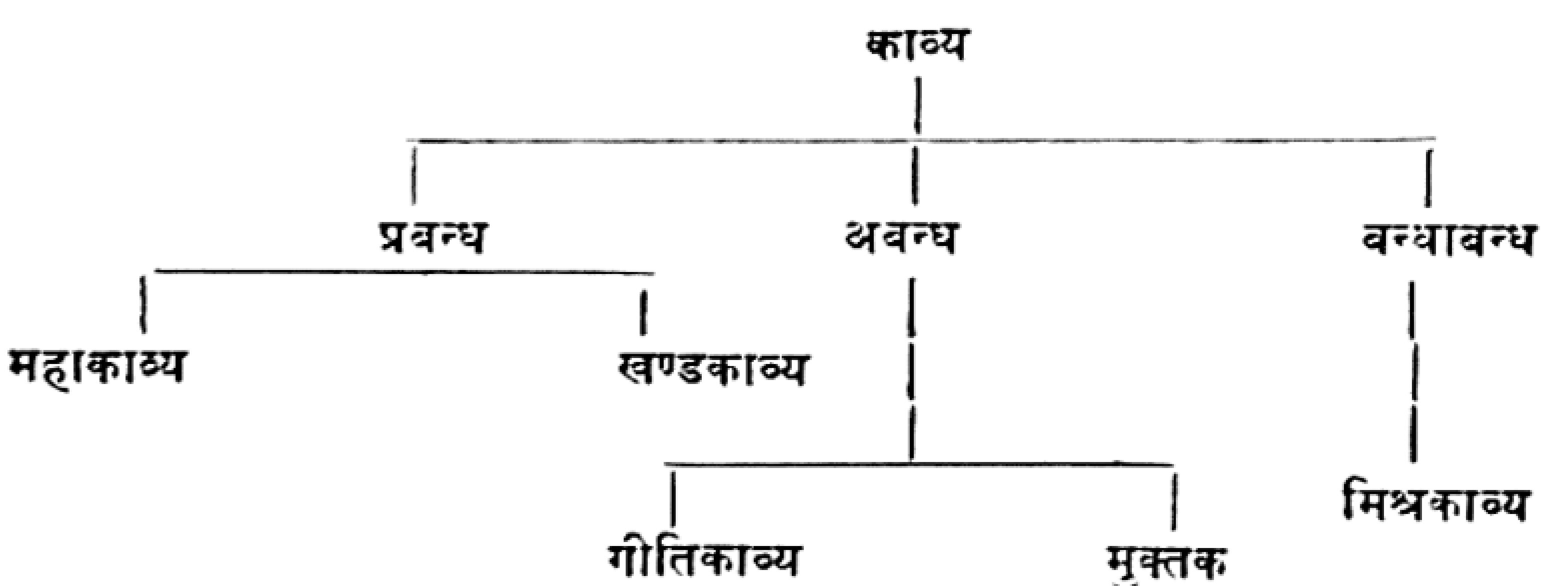
(ख) अभिनयात्मक काव्य—जिसके अतंर्गत आते हैं :—

१—नाट्यगीत (Dramtic lyrics)

२—नाट्यगीत (Dramtic story)

३—नाट्य स्वागत (Dramtic Monoloige or Solilquoy)

डा० श्यामसुंदरदास ने कविता का विभाजन विषयप्रधान (भौतिक) और आत्माभियंजक (व्यक्तित्व प्रधान) नामक रूपों में किया है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य के दो रूप बताये हैं—अनुकृत या प्रकृति (Initiatvie or Realistic) तथा अतिरंजित या प्रगती (Exaggerative or lyrical)[2] शुक्लजी की मान्यता की विशेषता यह है कि उन्होंने सफल प्रबंधकाव्य को ही महाकाव्य माना है। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य का वर्गीकरण प्रबंध, निबंध और निर्बन्ध नामक तीन रूपों में किया है।[3] डा० शकुंतला दुबे ने बंध के आधार पर प्रबंध, अबंध बंधाबंध रूपों में किया है[4] इसी प्रकार के वर्गीकरण डा० श्रीकृष्णलाल[5]



और बाबू गुलाबरायजी ने भी अपने ग्रन्थों में दिये हैं।[6]

काव्य रूपों का विकास निरंतर हो रहा है। कुछ काव्य रूप जैसे महाकाव्य आदि तो परम्परा से चले आ रहे हैं किंतु नये काव्यरूपों का विकास युग की आवश्यकता एवं अभिव्यक्ति की अनेकरूपता के परिणाम स्वरूप भी हुआ है। वर्तमान युग को साहित्य के इतिहास लेखकों ने 'गद्य युग' अभिधान दिया है। क्योंकि इस युग में गद्य के विकास के साथ-साथ गद्य रूपों का विकास भी अभूतपूर्ण गति से हुआ है। आज गद्य के विविध रूपों में उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, गद्यकाव्य आदि के अतिरिक्त जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र, रिर्पोताज, संस्मरण, एकांकी, पत्र-पत्रिकाएँ आदि विभिन्न नये रूप विकसित हो

१—साहित्यालोचन—(कविता के विभाग)

२—गोस्वामी तुलसीदास—पृष्ठ ७५–७६

३—वाङ्मय विमर्श—पृष्ठ ३३.

४—काव्य रूपों के मूलस्रोत और उनका विकास—पृष्ठ ४१

५—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ६७

६—काव्य के रूप—पृष्ठ ८

रहे हैं ।[1] गद्य के प्रसार के साथ-साथ कविता के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं जिससे नित नये काव्यरूप (भेद) हमारे सामने आ रहे हैं । वास्तव में कविता का सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से है । युग—बुद्धि का हो या विज्ञान का, या गद्य का, जब तक मानव के हृदय में संवेदन-तत्व विद्यमान हैं तब तक उसकी आत्मानुभूतियाँ स्पन्दित होकर काव्य-रचना के उपकरण जुटाती रहेंगी । समष्टि रूप में हम कह सकते हैं कि मानव की जो रागात्मिका शक्ति काव्य की जननी है वही रुचि, अभिव्यक्ति, शैली-शिल्प आदि के माध्यम से विविध काव्य रूपों की जननी भी है ।

---

१. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत–भाग–१—पृष्ठ १३५

सौंदर्यानुभूति

४

श्री माधव जाउलकर,
एम० ए०, एल-एल बी० 'साहित्यरत्न'

सौंदर्य भावना मानव-मन की एक ऐसी सूक्ष्म, मायाविनी, रमणीय एवं आकर्षिणी शक्ति है, जो कि अपनी सगुणात्मक चमत्कृति से वस्तुओं एवं विषयों को रूपायित कर, उन्हें अपरिसीम और अनिर्वचनीय सौंदर्य-सत्ता से सम्बन्धित कर सौंदर्यानन्द का अजस्त्र स्त्रोत प्रवाहित करती है, जिसमें कि मानव-मन आनन्दित एवं चमत्कृत हो अपनी सौंदर्य रसास्वादन की तृष्णा की परितृप्ति करता है। मानव, प्रकृति, वस्तुओं तथा ललित कलाओं के आकर्षक एवं चमत्कृत करने वाले आनन्ददायक गुण या भाव का नाम सौंदर्य है। सुन्दरता सुन्दर का गुण है एवं सौंदर्य उसका भाव प्रस्पुष्टिकारक शब्द। भारतीय सौंदर्यशास्त्री डा० हरद्वारीलाल शर्मा के मतानुसार अपनी अनुमति-प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना आदि-द्वारा आनन्द उत्पन्न करने वाले गुण को सौंदर्य और उस वस्तु विशेष को सुन्दर कहते हैं।[1]

सौंदर्य

सौंदर्य के संबंध में भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने काफी विचार किया है एवं सौंदर्य की उनके परिभाषाओं में बांधने व उसके गुण-धर्म-विशेषताएँ निश्चिय करने के प्रयास किए हैं, किन्तु कदाचित ही कोई परिभाषा सौंदर्य के समग्र रूप को अभिव्यञ्जित करने में सफल हुई हो। प्रमुख रूप से सौंदर्य विषयक चर्चा निम्न चार दिशाओं में या प्रकारों में हुई हैं :—

(१) केवल रूपाकार में सुन्दर की खोज।
(२) वर्ण सौंदर्य तथा उपयोग-सौंदर्य का अन्वेषण।
(३) मानस सौंदर्य की खोज, तथा
(४) नैतिकता और ईश्वरीय शक्ति की स्वीकृति में सुन्दर की खोज,

इस प्रकार सौंदर्य विवेचकों में से किन्हीं विचारकों ने बाह्य रूप के गुण-धर्मों का संकेत कर विवेचन किया है। किन्हीं ने सौंदर्य की आवश्यकता एवं उपयोगिता से सम्बद्ध किया है, किन्हीं ने मानव-मन को सौंदर्य स्रष्टा घोषित किया है तथा किन्ही ने ईश्वर या सत्यं एवं शिवं के साथ सौंदर्य को समन्वित किया है। अनेक विचारकों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण कर समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी अपनाया है एवं इसी दृष्टिकोण से सौंदर्य का

१. सौंदर्यशास्त्र : डा० हरद्वारीलाल शर्मा, (१९५३ ई०), पृ० १०

विश्रान्तिर्यस्यसंभोगे सा कला न कलामता ।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला । (शिव स्वरूप वि०)

अर्थात् जिस कला के आस्वाद से केवल विश्रान्ति उत्पन्न हो वह कला मर्मज्ञों की दृष्टि से कला कहलाने योग्य नहीं है। वास्तविक कला वह है जो दर्शक के चित्र को परमानन्द में लीन कर दे।"[1] क्षेमराज का यह दृष्टिकोण बाद के कला विकास का परिचायक है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ललिता स्तवराज और शैव सिद्धान्त के अनुसार कला को महामाया का चिन्मय विलास और महामाया की सम्मूर्तन शक्ति माना है। इन्होंने लिखा है कि "कला माया के पाँच कंचुकों या आवरणों में से एक कंचुक या आवरण होती है। काल-नियति-राग-विद्या कला से माया के पाँच कंचुक हैं। इन्हीं से शिवरूप व्यापक चैतन्य आवृत होकर अपने को जीवात्मा समझने लगता है। × × × वह छोटी-मोटी वस्तु के बनाने में रस पाने लगता है—यही कला है। यह माया का पाँचवाँ कंचुक है, अर्थात् वह माया की रूप विधायिनी शक्ति है।"[2] . इसी से डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने बताया है कि "मन के सूने प्रदेश को भावों से और लोक को मूर्त रूपों से भरना यही कलात्मक सृष्टि है। × × × स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नाट्य, संगीत इनके रूप-सुधर्मा सभा में देवों की तरह-प्रत्यक्ष दर्शन देने लगते हैं, और उनके समवाय से कला का भवन जगमगाने लगता है।"[3] . तात्पर्य यह कि कला रूप विधायिनी शक्ति है। इसी शक्ति का प्रत्यक्षीकरण स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नाट्य और संगीत में होता है। स्मरण रहे कि इसमें काव्य शामिल नहीं है। वैसे क्षेमराज की व्यापक परिभाषा के अनुसार काव्य भी शामिल हो सकता है। अमरकोष के अनुसार भी कला में संगीत (नृत्य, वाद्यादि) और शिल्प (स्थापत्य, मूर्त्ति, तक्षण और चित्रकला) दोनों ही समाहित हैं। "कला शिल्पे संगीत भेदे च।" इसमें काव्य नहीं है।

जीवन को सुखी तथा समृद्ध करने के लिए इस कला का विविध रूप विकास हुआ। वात्स्यायन के कामसूत्र में ६४ कलाओं का वर्णन है। इन ६४ कलाओं में गीत, वाद्य, शयनरचना, भूषण भोजन से लेकर व्यायामिकी विद्याज्ञान तक सम्मिलत हैं। इनमें काव्य या साहित्य से सम्बन्धित नाट्य, काव्य समस्यापूर्ति, मानसी काव्य क्रिया और अभिधान कोष (छंदज्ञान) भी हैं। पर सम्पूर्ण रूप में काव्य नहीं है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी और बाबू गुलाबराय काव्य को कला नहीं मानते। प्रसाद जी के अनुसार "काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य समस्या-पूरण भी एक कला है; किन्तु वह समस्या पूर्ति कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल मात्र समझी जाती थी। कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में

---

१. भारतीय कला के पदचिह्न—डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० १२६-१२७ प्रथम सं०
२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृष्ठ ९—१० संस्करण १९५३
३. कला और संस्कृति—पृष्ठ २३०—२३१ द्वितीय संस्करण

लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।"[1] शुक्ल जी के अनुसार भी हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौंसठ कलाओं में नहीं की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाये जाने पर भी इस प्रकार का वितंडावाद नहीं खड़ा किया गया।"[2]

प्रसिद्ध कलाविद् रायकृष्णदास जी कला और काव्य को सम्बद्ध मानते हैं। जबकि डा० श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' में हेगेल के सिद्धान्त के आधार पर ललित कलाओं का विभाजन करते हुए काव्य को सूक्ष्मतम कला माना है। पर इन्होंने भारतीय चिन्तन के प्रमाण के आधार पर काव्य और कला को एक माना है। वैसे क्षेमराज का कला सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण का परिचय मिल चुका है। इन्होंने आठवीं सदी के विवरण धर्मोत्तर पुराण का सुपुष्ट आधार ग्रहण किया है। इन्होंने लिखा है कि "इसमें यह विशेषता है कि काव्य (श्रव्य तथा दृश्य), गान, नृत्य-अभिनय, चित्र और मूर्ति को कलाओं की एक इकाई मानकर उनके प्रकरण एक ही ठिकाने दिये गये हैं। × × × यह बात निर्विवाद हो जाती है कि उक्त कलाओं का उद्देश्य भी रसों की अभिव्यक्ति ही है तब हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हमारे यहाँ को काव्यवाली उक्त परिभाषाएँ, जो तत्वतः एक ही हैं, कला की ही व्यापक परिभाषा का एकदेशीय रूप हैं।"[3] इनके अनुसार कला और काव्य की व्यापक परिभाषा कृति रसात्मिक का कला "या" रमणीयार्थ प्रतिपादिका कृतिः कला "समुचित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चिन्तन में ही कला सम्बन्धी दोनों दृष्टिकोण मौजूद हैं। पहला दृष्टि कोण कला को रूप विधायिका शक्ति-सामान्य भौतिक उपयोगिता एवं सुखप्राप्ति के लिए मानना है। इस रूप में कला उपविद्या है। काव्य विद्या है। सूक्ष्मतम आनन्दानुभूति या रसानुभूति के लिए काव्य की मान्यता है। इस रूप में कवि शिल्पी और कलाकार से ऊँचा है। पर प्रतीत होता है कि आगे चलकर स्थूल उपयोगिता के बदले सूक्ष्मता और रसमयता को स्थान देकर कला को काव्य के निकट पहुँचा दिया गया है।

डॉ० वासुदेवशरण ने कला और साहित्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "भारतवर्ष में साहित्य ने कला के रूप को समृद्ध किया है, और कला ने साहित्य की व्याख्या की है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध हमारी संस्कृति का एक अन्यंत विशिष्ट और रमणीय पक्ष है।"[4] डा० जगदीश गुप्त ने बताया है कि "साहित्य जीवन की शब्दमय व्यंजना है और कला रूपमय।"[5] और सम्मेलन पत्रिका के कला अंक के सम्पादकीय में बताया गया है कि "साहित्य और कला का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकजीवन की

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ ३१.

२. चिन्तामणि–द्वितीय भाग; पृष्ठ १८० द्वितीय संस्करण

३. साहित्य समीक्षाञ्जलि कला की भारतीय परिभाषा, पृष्ट २–३, द्वितीय सं०

४. कला और संस्कृति, पृष्ठ २४३.

५. भारतीय कला के पदचिह्न, पष्ठ १००

रसभरी प्रेरणा ने साहित्य और कला दोनों को एक साथ उत्पन्न किया है। इसलिए साहित्यकार को कलाकार होना है और कलाकार को साहित्यकार होना बहुत आवश्यक है।" तात्पर्य यह कि दोनों में निकट का सम्बन्ध है, पर दोनों एक नहीं हैं। तथापि हमने पश्चिम के प्रभाव से कला को उपयोगी कला और ललित कला में विभाजित कर काव्य को ललित कला का अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ भेद स्वीकार कर लिया है। हमने भी काव्य कला कहना शुरू कर दिया है। अब यह विचार करना है कि यह काव्यकला कला के लिए है या लोकहित के लिए।

प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने काव्य की आत्मा पर गहराई के साथ विचार करते हुए काव्य के प्रयोजन पर भी विचार किया है। यूरोप के समान भारत में काव्य के प्रयोजन पर 'कला कला के लिए या लोक हित के लिए'—विशेप मतभेद नहीं रहा है। इसके लिए वग निर्माण या आन्दोलन नहीं चला है। काव्य की आत्मा को लेकर युगों तक चिन्तन-मनन चलता रहा है। इसको लेकर अनेक सम्प्रदाय संघटित हुए हैं। अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और रस सम्प्रदाय की रचना काव्य की आत्मा से सम्बन्धित है। आधुनिक युग में यूरोप के प्रभाव के कारण अवश्य ही काव्य के प्रयोजन को लेकर आन्दोलन चले हैं और चल रहे हैं। अस्तु, पहले हम प्राचीन साहित्यशास्त्रियों के प्रयोजन सम्बन्धी विचार को समझें। ईसा से कई सौ वर्ष पहले ही भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रसानुभूति को नाटक का परम लक्ष्य मान कर अन्य प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं—

वेदविद्येतिहासानामाख्यानं परिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।
श्रुति स्मृति सदाचार परिशेपार्थ कल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

अर्थात् वेद विद्या, इतिहास, कथा आदि समग्र साधनों का एकत्रीकारण करके सब लोगों का एक साथ मनोरंजन करने वाला नाटक होता है। इसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ विनोद का भी सम्मिश्रण होता है। इससे स्पष्ट होता है कि लोक का सात्विक मनोरंजन नाटक का एक प्रयोजन था।

आचार्य भामह (छठी शताब्दी) ने 'काव्यालंकार में' चतुर्वग के साथ कलाकुशलता, प्रीति और कीर्ति को भी काव्य का प्रयोजन माना है। यथा—

धर्मार्थकाममोक्षेष, वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिञ्च साधुकाव्य निषेवणम् ।।(१।२)

आचार्य वामन (नवीं शताब्दी) ने 'काव्यालंकार सूत्र में आनन्द और यश को काव्य के प्रयोजन बताये हैं।

काव्यं सद दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात् (१।१।५) आचार्य मम्मट (११वीं शताब्दी) ने 'काव्य प्रकाश' में आनन्द को ही मूल प्रयोजन माना है। साथ ही वाध्य व स्थूल प्रयोजन के रूप में यश, धन, व्यावहारिकता, अनिष्ट निवारण, आनन्द-प्राप्ति और

कांता सम्मित उपदेश को भी स्वीकार किया है। मध्यकाल में भक्तिकवि तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा.........' कह कर स्वान्तः सुखाय अर्थात् आत्मिक सुख-सन्तोष को प्रयोजन सिद्ध किया, पर उससे पूरे समाज का लोक हित का प्रयोजन सिद्ध हुआ। इन विविध विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द रहा है और लोक पर दृष्टि केन्द्रित रही है। लोक उपेक्षित नहीं रहा है। नाटककार और कवि क्रमशः प्रेक्षक तथा पाठक को सामने रख कर काव्य की आत्मा और प्रयोजन पर विचार करते हैं। मम्मट के छह प्रयोजनों में आनन्द, अनिष्ट निवारण तथा कान्ता सम्मित उपदेश सहृदय पाठकों के लिए प्रस्तुत हैं। स्वान्तः सुखाय लिखने वाले तुलसी ने भी पूरे समाज का लोक हित के लिए मानस को प्रस्तुत किया। कवि का स्व विनयपत्रिका में है, पर कवि की समष्टि-दृष्टि मानस में है, यह निर्विवाद सत्य है।

आधुनिक युग में हिन्दी के कवियों, कथाकारों तथा समालोचकों ने काव्य के प्रयोजन पर विचार किया है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'पद्य-प्रबन्ध' में सद्भाव-संचार, कांता सम्मित उपदेश तथा लोकहित को काव्य का प्रयोजन माना है।[1] गुप्तजी पर आ० मम्मट तथा आधुनिक मानवतावाद के प्रभाव स्पष्ट हैं। जयशंकर 'प्रसाद' ने लिखा है कि "काव्य की धारा लोकपक्ष से मिल कर अपनी आनन्द-साधना में लगी रही।"[2] अर्थात् लोकपक्ष से समन्वित आनन्द-साधना ही काव्य का प्रयोजन है। इस तरह प्रसादजी ने भारतीय रस परम्परा के सर्वमान्य एवं समन्वयपूर्ण रूप को प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। रस-परम्परा में कवि तथा सहृदय पाठक दोनों ही आनन्दानुभूति में सम्मिलित किये जाते हैं। और इस रसानुभूति का प्रमुख अंग विभाव होता है जिसमें सारा वाह्यपरिवेश—लोक शामिल हो जाता है। अतः यह आनन्द साधना लोकपक्ष से असम्पृक्त नहीं होती। स्थूल उपयोगिता से अवश्य ही असम्पृक्त होती है। पन्तजी ने कहा है कि "स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्वों से ओत-प्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानवचेतना के आलोक को वितरण कर एवं लोक जीवन को वाहर-भीतर से संस्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने में सहायक हों।"[3] पन्तजी ने स्पष्ट रूप से कला को लोकहितार्थ एवं नवसंस्कृति रचनार्थ माना है। इस लोक-हित को सांस्कृतिक स्तर प्रदान कर स्थूलता तथा राजनीति से बचाने का प्रयत्न किया है जो स्तुत्य है। दिनकर जी ने आनन्द के साथ युगधर्म को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।[4] इस आनन्द में भी कवि एवं पाठक दोनों शामिल हैं। युगधर्म अपने समय के लिए लिखना— के पालन में लोक सापेक्ष दृष्टि स्पष्ट है।

छायावादी कवियों को व्यक्तवादी तथा पलायनवादी कहा गया है। इसी की प्रति-क्रिया में समष्टिवादी प्रगतिवाद का आविर्भाव माना जाता है। पर उपर्युक्त उद्धरणों तथा

---

१. पद्य प्रबन्ध, पृष्ठ ६२.
२. काव्य और कला ....पृष्ठ ७०
३. गद्य पथ, पृष्ठ २०४
४. रेती के फूल

समग्र छायावादी काव्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि छायावाद का लोक पक्ष विशुद्ध सांस्कृतिक धरातल पर स्थापित है। नये सौन्दर्य बोध, सांस्कृतिक दृष्टि तथा लाक्षणिकता से परिपूर्ण काव्य कला के कारण छायावाद अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों में अपना उत्कर्ष दिखाने में समर्थ हो सका। वैयक्तिकता तथा कला पर विशेष ध्यान रहने पर भी लोकपक्ष उपेक्षित नहीं हुआ। प्रसाद, पन्त तथा निराला के काव्य में लोकपक्ष समाविष्ट है। द्विवेदी युग के काव्य में तो लोकहित ही प्रमुख प्रयोजन है। पर प्रगतिवाद में यह लोकहित स्थूल रूप में—राजनीतिक मतवाद के आधार पर दिखायी पड़ा। वैसे अंचल जी ने कहा है," यदि साहित्य वह सच्चे अर्थों में प्रगतिशील है सदैव जीवन को अधिकाधिक निकट से देखेगा और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर जोर देगा।"[1] इससे कोई इन्कार नहीं कर सकेगा पर प्रगतिवादी काव्य हँसिया-हथौड़ी, लालसेना तथा मास्को का गीत गाने लगा। लोकहित के इस दुरुपयोग के कारण इस वाद की अकाल मृत्यु हो गयी। प्रयोगवाद आधमका जिसमें वैयक्तिकता तथा नयी कला का नवीन प्रयोग आरम्भ हुआ। एक तरह का कलावाद ही आविर्भूत हुआ। पर सिद्धान्त के रूप में लोकपक्ष का तिरस्कार नहीं किया गया और न लोकहित को प्रयोजन के रूप में मानने वाले तिरस्कृत हुए। तथापि इस काव्य में कुण्ठा, अनास्था, विघटन एवं विसंगति की वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही व्यक्त हुई। लोकपक्ष बहुत कुछ दब गया। इनका स्वान्तः सुखाय वस्तुतः वैयक्तिकता—प्रेरित है। अज्ञेयजी कहते हैं; "कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए नहीं होता सच्चे अर्थ में स्वान्तः सुखाय भी होता है।"[2] साथ ही धर्मवीर भारती का भी कथन है जिसमें लोक-पक्ष का ध्यान विद्यमान है। लिखते में है, "मैं अपना पथ बना रहा हूँ। जिन्दगी से अलग रह कर नहीं, जिन्दगी के संघर्षों को झेलता हुआ, उसके दुःख-दर्द में एक गम्भीर अर्थ ढूँढ़ता हुआ और उस अर्थ के सहारे अपने को जनव्यापी सच्चाई के प्रति अर्पित करने का प्रयास करते हुए।"[3] नई कविता में भी उपर्युक्त वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ ही अभिव्यंजित हो रही हैं। सेक्स सम्बन्धी आम पीड़ा, कुण्ठा तथा प्राचीन मूल्यों के प्रति-अनास्था की अभिव्यक्ति प्रमुख है। कविता भी इसी पथ पर है। लोकहित उपेक्षित हो रहा है। वैसे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन एवं नवीन के द्वन्द्व, असन्तोष तथा विद्रोह की अभिव्यक्ति में लोकपक्ष उपेक्षित नहीं है। पर इस द्वन्द्व, अनास्था तथा कुण्ठा में वैयक्तिकता प्रबल है और कला में चमत्कार। इसी काल में दो आक्रमणों तथा युद्धों के मध्य संघर्ष, बलिदान तथा आत्म विश्वास की कविताएँ लिखी गयी हैं। माखनलाल चतुर्वेदी, नेपाली, दिनकर आदि की लेखनी ने लोकहित-देशहित की किरण को उगा दिया है। पर वैयक्तिक कविता का प्रवाह ही प्रबल है जिस पर पश्चिमी प्रभाव निर्विवाद है। अस्तित्ववाद का प्रभाव स्पष्ट है।

यह कहा जा चुका है कि यूरोप में कला के प्रयोजन पर अत्यधिक विचार हुआ है। तत्सम्बन्धी वाद तथा आन्दोलन चले हैं। एक-दूसरे की प्रतिक्रिया अविराम चलती रही है। कला

१. किरण वेला, भूमिका, पृष्ठ 'ख'
२. त्रिशंकु, पृष्ठ २६.
३. ठण्डा लोहा, पृष्ठ ८.

कला के लिए या लोकहित के लिए, नामक विवाद यूरोपीय मानस-मन्थन का ही परिणाम है । डा० सोमनाथ गुप्त ने लिखा है कि "सम्भवतः धर्म (ईसाई) के प्रचार में जो कला का इतना उपयोग हुआ उसी की प्रतिक्रिया के रूप में 'कला धर्म के लिए' न होकर 'कला कला के लिए' हो गई ।"[1] यह वाद कांट और हेगेल से पोषित होकर वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड, क्लाइव वेल और ब्रेडले द्वारा संवर्द्धित हुआ । इसके अनुसार कला का सौन्दर्य ही कला की उपयोगिता है । जीवन या नैतिकता से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । डा० ब्रेडले के अनुसार सौन्दर्यानुभूति स्वयं साध्य है । इस तरह इस वाद ने धर्म तथा रस्किन के नीतिपरक सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया में जीवन से निरपेक्ष कला-वाद को जन्म दिया । जीवन की उपेक्षा की । जब विज्ञान ने अपने आविष्कारों के द्वारा भौतिक समृद्धि के साथ मानवीय गुणों तथा मानवीय सभ्यता पर प्रहार किया तो रस्किन, टॉल्सटॉय आदि ने धर्म से अनुप्राणित मानववाद को प्रस्तुत किया । कला को जीवन से सम्बद्ध किया । कला को जीवन के लिए उपस्थित किया । टॉल्सटॉय ने 'ह्वाट इज आर्ट' में धर्म से अनुप्राणित लोकार्थ कला का विश्लेषण किया है कि कला का उद्देश्य बुद्धि के क्षेत्र से भाव के क्षेत्र में उस सत्य को लेजाना है जो कि यह बतलाता है कि मनुष्यों का कल्याण उनके एक होकर रहने में तथा ईश्वर के राज्य के स्थापित करने में है जो कि प्रेम पर आश्रित है और जिसको हम जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं । इस वाद के द्वारा कला जीवन के निकट आयी । मानव कल्याण की चेतना प्रमुख प्रेरणा बनी । साथ ही विज्ञान के विकास—प्राणिशास्त्रीय मान्यता से प्रेरणा पाकर प्रकृतवाद का जन्म हुआ जिसके प्रमुख कलाकार जोला और मोपासाँ थे । यह वाद प्राकृतिक मनुष्य का उसकी सहज पशु प्रवृत्तियों का चित्रण करता है । फलस्वरूप साहित्य में सेक्स का नैतिक अनैतिक स्तर छोड़कर चित्रण होने लगा । यह वाद लोक सापेक्ष होकर भी लोकहित की हानि करने लगा । साथ ही साथ एक दूसरा वाद भी शुरू हुआ जिसे प्रतीकवाद कहते हैं । यह वाद कलावाद के समान ही सौन्दर्य-वादी एवं व्यक्तिवादी है । पो, मलार्मे एवं वादिलेयर इसके प्रमुख स्तम्भ रहे हैं । और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी कलावादी आन्दोलन रहा है । समाज तथा समय से निरपेक्ष रहकर मात्र अभिव्यंजना पर जोर दिया है । बिम्बवाद भी कलावादी आन्दोलन है ।

कलावादी तथा लोक सापेक्षवादी वादों के मध्य मार्क्सवाद का आगमन हुआ । इसने कला को जीवन से ही सम्बद्ध नहीं किया अपितु राजनीति पर आधारित भी कर दिया । मार्क्सवाद के अनुसार राजनीति के समान साहित्य को भी वर्गभेद और आर्थिक वैषम्य से मुक्त समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करना चाहिए । साम्यवादी क्रान्ति में सहयोग देना चाहिए । कला में लोकहित की चेतना अभिनन्दनीय है, पर कला को राजनीति का अनुचर बनाना उचित नहीं है । मार्क्सवाद में यही हुआ । प्रगतिवाद के नाम से हिन्दी में यह आया । अन्याय शोषण तथा विषमता के खिलाफ आवाज बुलन्द करते हुए किसान-मजदूरों को दुःख-दर्द को वाणी दी । साथ ही लालसेना तथा मास्को की प्रशस्ति की । प्रगतिवाद के नाम पर पहले के सम्पूर्ण साहित्य को अस्वीकृति करने का साहस किया । परिणाम अच्छा नहीं हुआ । कला की

---

१. समालोचक-सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक, पृष्ठ ३७

राजनीतिक दासता वांछनीय नहीं है। यह आन्दोलन कमजोर पड़ गया। सार्त्र और कीर्केगार्ड का अस्तित्ववाद सामने आया है। व्यक्ति की स्वाधीनता, अस्तित्व-चिन्तन, पुराने मूल्यों के संघर्ष को लेकर यह वाद वैयक्तिक चेतना को ही प्रमुखता दे रहा है। क्षणवाद, पलायन, सेक्सीय कुण्ठा, जीवन की व्यर्थता आदि की अभिव्यक्ति हो रही है। इस तरह लोकहित का सांस्कृतिक एवं कलात्मक रूप सद्यःविद्यमान मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद में दृष्टिगत नहीं होता। एक में लोकहित का वादग्रहस्त एवं राजनैतिक रूप दिखायी पड़ता है। दूसरे में लोकहित का सूक्ष्म चेतना है जो वैयक्तिकता पर आधारित है। वैयक्तिकता तथा कला चमत्कार की ही प्रधानता है।

मनुष्य ने यदि ईश्वर को बनाया तो मनुष्य के हित के लिए ही। स्वर्ग और नरक की कल्पना भी मनुष्य के हित के लिए ही की। आज राजनीति एवं अर्थ नीति की प्रधानता है तो वह भी एकमात्र मानवता के कल्याण के लिए ही है। कला का जन्म मनुष्य के द्वारा मनुष्य के मध्य होता है, वह लोक निरक्षेप कैसे रह सकती है! यह सही है कि काव्यकला स्थूल उपयोगिता या स्थूल भोगवादी भोग के लिए नहीं है। यह मनुष्य की विशिष्ट प्रतिभा अनुभूति तथा कल्पना की उपज है। यह नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा कामशास्त्र और धर्मशास्त्र के ऊपर की चीज है। अतः कला इन शास्त्रों की अभिव्यक्ति न बने। जीवन में यह सब मान्य है। कला में भी इनका स्थान होगा। पर कला की सृजना इन्हीं के लिए नहीं होगी और न इनसे सर्वथा असम्पृक्त ही रह सकेगी। मानसिक एवं आत्मिक आनन्द के लिए सौन्दर्य की सृष्टि लोक सापेक्षता के साथ होगी। लोकहित सांस्कृतिक एवं कलात्मक धरातल पर सम्पन्न हो। शिव सौन्दर्य-सरोज के कोष में मकरन्द के समानमुस्करायें। बिना सुरभि का सरोज तो व्यर्थ ही होगा। अतः कला कला के लिए नहीं, कला लोकहित के साथ हो। कला शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति हो। प्रसाद, प्रेमचन्द्र जैनेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र ने कला को इसी रूप में स्वीकार किया है।

—०—

३

काव्य का स्वरूप, लक्षण एवं भेद तथा उनका मनुष्य से रागात्मक सम्बन्ध

प्रो० देवीप्रसाद गुप्त

डा० श्यामसुन्दरदास ने एक स्थान पर लिखा है कि—"काव्य का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है।"[1] उन्होंने साहित्य शब्द की परिभाषा देते हुए भी उसे भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों का संग्रह या समष्टि रूप कहा है। यह स्पष्ट है कि साहित्य और काव्य में तात्विक दृष्टि से समानता है। काव्यशास्त्र में प्राचीन आचार्यों द्वारा काव्य शब्द का प्रयोग साहित्य के अर्थ में हुआ भी है। विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय पद्य में ही रचित एवं प्राप्य है। गद्य का प्रचुर विकास और प्रसार तो आधुनिक युग की देन है। आज साहित्य शब्द से गद्य-पद्य में विरचित समस्त वाङ्मय का बोध होता है; जबकि काव्य शब्द के अन्तर्गत केवल वही रचनाएँ सम्मिलित की जाती हैं जो छंदबद्ध, रसपूर्ण तथा भावोद्दीपन की तीव्रता लिये रहती हैं। कविता में साहित्य के अन्य सभी रूपों की अपेक्षा भावोद्बोधन तथा हृदय को प्रभावित करने की सबसे अधिक शक्ति होती है। भावों की जितनी सशक्त, सजीव और निर्बंध अभिव्यक्ति काव्य के द्वारा सम्भव है उतनी अन्य साहित्य रूपों द्वारा नहीं। काव्य में मानव जीवन की संवेदनाएँ और सद्वृत्तियां (प्रेम, करुणा, दया, ममत्व आदि) को मुखरित करने की विलक्षण सामर्थ्य होती है। यही कारण है कि काव्य साहित्य का विशिष्ट अंग माना जाता है।

साहित्य की भांति कविता की भी अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। किन्तु साहित्य की भांति कविता (काव्य) की भी कोई सर्वाङ्गीण परिभाषा निश्चित नहीं हो सकी है। इस अभाव का कारण काव्य शब्द की व्यापकता के साथ-साथ प्रारम्भावस्था से आज तक कविता की व्यंजना प्रणालियों, प्रवृत्तियों, प्रेरक-शक्तियों और शिल्प-विधियों में निरन्तर परिवर्तन (विकास) है। काव्य का विवेचन करते समय भारतीय काव्याचार्यों ने काव्य के शरीर (कलापक्ष) और आत्मा (भावपक्ष) दोनों पर ही ध्यान दिया है। फिर भी संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की रचना के किसी एक उपकरण को प्रमुखता दी है। और स्वयं द्वारा प्रतिपादित तत्व को काव्य की आत्मा (आत्म-तत्व) भी मान लिया है। काव्यात्मा के निर्माण में रस, रीति, ध्वनि

१. साहित्यालोचन—पृष्ठ ३६

अलंकार, वक्रोक्ति आदि को बल देने के कारण ही संस्कृत-साहित्यशास्त्र में रस, रीति, अलंकार, ध्वनि और वक्रोक्ति पांच मम्प्रदाय प्रचलित हो गये ।

अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों में भामह और दण्डी के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होंने काव्य के शरीर का प्रसाधन करने वाले अलंकारों को महत्ता दी है।[2] रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा[3] बताते हुये श्रेष्ठ पद-रचना को रीति कहा है।[4] और काव्य को वर्णन शैली के कारण ग्राह्य माना है। उनके अनुसार काव्यगत सौन्दर्य ही वर्णन शैली है।[5] वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य कुन्तक के अनुसार विदग्धता पूर्ण अभिव्यंजना शैली ही काव्य का प्राण है।[6] आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते थे।[7] ध्वनिकार का कथन है कि जहाँ अभिधेयार्थ व्यंजना के कारण गौण हो जाता है वहीं रचना ध्वनि कहलाती है।[8] ध्वनिवादियों की मान्यता थी कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता से काव्य में सौंदर्य और रमणीयता की वृद्धि होती है। इस सम्प्रदाय ने रस-सम्प्रदाय की भांति ही लोकप्रियता प्राप्त की। ध्वनिवादियों ने रस, रीति अलंकार आदि का भी ध्वनि से ममन्वय स्थापति किया। विश्वनाथ और भरत मुनि रस-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। विश्वनाथ ने तो रसमय वाक्य को ही काव्य की संज्ञा दी है।[9]

इन सम्प्रदायों की स्थापनाओं को परवर्ती आचार्यों ने भी ग्रहण किया। उन्होंने सम्प्रदायगत विचारों के ही आधार पर काव्य शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ कीं। भामह ने काव्य में शब्द और अर्थ की अवस्थिति को महत्व दिया।[10] रुद्रट ने भामह की ही परिभाषा की एक प्रकार से पुनरावृत्ति कर दी।[11] मम्मटाचार्य ने दोषरहित, गुण- अलंकार युक्त तथा कभी कभी अलंकार सहित शब्दार्थ मयी रचना को काव्य कहा है।[12] जगन्नाथ के

---

२. तैः शरीरं च काव्यनामलंकाराश्च दर्शितः।
शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली ।। दण्डी-काव्यादर्श १।१०

३. रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन-अलंकारसूत्र

४. विशिष्ट पद रचना रीति—

५. काव्यं ग्राह्यामलंकारात सौन्दर्यमलंकार :—

६. "शब्दार्थो सहितो वक्र व्यापार शालिनी, बन्धे व्यवस्थितो—
काव्यं तद्विाल्हादकारिणी"—वक्रोक्तिजीवतम्—१।७

७. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति-ध्वन्यालोक

८. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्य विशेष सः ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः ।।
ध्वन्यालोक—१।१३

९. "वाक्यंरसात्मकं काव्यम्"
—साहित्यदर्पण—१।३

१०. शब्दार्थौ सहितो काव्यम्—भामह—काव्यालंकार—१।१६

११. ननु शब्दार्थौ काव्याम्—रुद्रट-काव्यालंकार

१२. तददोषो शब्दार्थौ सगुण वनलं कृति पुनःक्वापि—मम्मट (काव्यप्रकाश)

रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य माना है।[13] संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्य अनेक आचार्यों ने भी काव्य की ऐसी ही परिभाष दी हैं। जिनमें बहुत कुछ समानता दिखाई देती है।[14]

संस्कृत के काव्याचार्यों द्वारा दी गई काव्य की परिभाषाओं में काव्य की आत्मा के संधान का प्रश्न ही उनकी दृष्टि में प्रमुख रहा है। सम्प्रदायगत कट्टरता के कारण इन परिभाषाओं में काव्य के किसी पक्ष विशेष के प्रति आग्रह दिखाई देता है। इसी रूढ़ आग्रह के कारण परिभाषाएँ प्रायः अपूर्ण, एकांगी और परस्पर विरोधी हैं। फिर भी काव्य के विवेचन में इनका ऐतिहासिक महत्व है। इनके माध्यम से तत्कालीन काव्य के स्वरूप, लक्षण तथा आदर्शों को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। संस्कृत की काव्यांग विवेचन की परम्परा का हिन्दी की काव्य-रचना और काव्यशास्त्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। रीतिकालीन-काव्य इस दृष्टि से द्रष्टव्य है।

संस्कृत भाषा के आचार्यों की भांति ही पाश्चात्य आचार्यों और कवियों ने भी काव्य की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि वडस्वर्थ के अनुसार कविता सशक्त भावों का उद्रेक है। जिसकी उत्पत्ति शांति के क्षणों में संचित अनुभूति से होती है।[15] कॉलरिज के शब्दों में सुन्दर शब्दों में भाव-चयन ही कविता है।[16] कवि शैली कल्पना की अभिव्यक्ति को कविता मानते हैं।[17] कार्लाइल कविता को संगीतमय विचार[18] और जॉनसन छन्दबद्ध रचना को कविता मानते हैं।[19] मैथ्यू ऑरनाल्ड के अनुसार कविता जीवन की समालोचना है।[20] हडसन ने कविता को कल्पना और भावना के माध्यम से जीवन की व्याख्या

---

१३. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्-जगन्नाथ-रसगंगाधर

१४. (अ) "अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्"

हेमचन्द्र-काव्यानुशासन

(ब) "निर्दोषा लक्षणवती स रीतिगुंण भूषिता।
सालंकार-रसानेक वृत्तिर्वाक्काव्यानामभाक् ॥"

जयदेव-चन्द्रालोक

(स) "संक्षेपाद्वाक्य मिष्टार्थं व्यच्छिन्ना पदावली।
कायं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष-वर्जितम् ॥"

व्यास-अग्निपुराण

15. "Poetry is spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquality.' Wordsworth

16. Poetry, the best words in best order—COLERIDGE

17. Poetry in general sense may be defined as the expression of imagination. P B Shelley

18. Poetry we will call musical thought. CARLYLE

19. Poetry is metrical Composition. JOHNSON

20. Poetry is at bottom Criticism of life. ARNOLD

कहा है । [21] मैकाले ने कविता को शब्दों की चित्रकला माना है ।[22] इसी प्रकार की अन्य भी बहुत सी परिभाषाएँ दी गई हैं जिनमें कविता को कहीं संगीत, कहीं आनन्द, कहीं कलात्मक व्यंजना और कहीं सत्य और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कहा गया है ।[23]

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य का कलात्मक और जीवनोपयोगी दोनों दृष्टियों से विश्लेषण किया है । पाश्चात्य काव्यादर्श में जीवन सब प्रकार से ग्राह्य रहा है । मैथ्यू आरनॉल्ड की परिभाषा इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है । पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य-रचना के चार तत्व माने हैं :—

१—भावतत्व (Emotional Element)
२—बुद्धि तत्व (Intellectual Element)
३—कल्पना तत्व (Imagination)
४—शैली तत्व (Style)

इन तत्वों में भारतीय काव्यशास्त्र के आधारमान त्रितत्व—सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का भी समाहार हो जाता है । भारतीय काव्यशास्त्र के रस, रीति, अलंकार एवं गुणादि का भी इन तत्वों से समन्वय किया जा सकता है । भाव ही रस होते हैं । बुद्धि तत्व से विचार के अस्तित्व का बोध होता है जो सत्यं का प्रतिष्ठाता है । कल्पना काव्य का अनिवार्य उपकरण है । वह सौन्दर्य की विधायिनी शक्ति भी है । शैलीतत्व काव्य के अभिव्यंजना पक्ष (रीति, गुण, अलंकार) से सम्बन्धित है । इस संस्कृत काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की काव्य के अनिवार्य तत्वों एवं उपकरणों से सम्बन्धित मान्यताओं में विशेष अंतर नहीं है ।

हिन्दी के कतिपय आचार्यों और कवियों ने भी कविता का स्वरूप निरूपण किया है । उनके काव्य विषयक दृष्टिकोण के निर्माण में पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों की विचारधाराओं का योगदान रहा है । आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है कि—"सादगी, असलियत और जोश यदि तीनों गुण कविता में हों तो

---

21. Poetry is interpretation of life through imagination and emotion.
HUDSON

22. "By Poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination. The art of doing by means of words what the painter does by means of Colours."

23. (a) Music when combined with pleasurable idea is poetry. **Poe**
(b) Poetry is intellect coloured by feelings. **Wilson**
(e) Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by Calling imagination to the help of reason **Johnson**
(d) Poetry is the Concrete & artistic expression of human mind in emotional & rythmical language." **DNUTON**

कहना ही क्या है । परन्तु बहुधा अच्छी कविता में एकाध गुणों की कमी पाई जाती है ।"[24] द्विवेदी जी के विचार अंग्रेजी के कवि मिल्टन से तुलनीय है ।[25] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई हैं, उसे कविता कहते हैं । इस साधना को हम भाव-योग कहते हैं तथा कर्म योग और ज्ञान योग के समकक्ष मानते हैं ।"[26] स्वर्गीय कवि श्री जयशंकर प्रसाद के अनुसार—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विकल्प या विज्ञान से नहीं है । वह एक श्रेयमयी प्रेय स्थनात्मक ज्ञानधारा है ।"[27]

हिन्दी के विद्वानों एवं कवियों द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषाओं में भी काव्य के तत्वों को लक्ष्यगत करके ही विवेचना की गई है । इधर पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क से काव्य सम्बन्धी मान्यताओं और विचारधाराओं में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं । हिन्दी काव्य-परम्परा में छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, स्वच्छन्दतावादी काव्यधाराओं का विकास प्रसार और प्रभाव इसके उदाहरण हैं । काव्य के परम्परित तथा स्थापित मान-दण्डों में युग की परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन होता भी रहा है । यह परिवर्तनक्रम सदैव ही प्रगतिशील रहा है । फलस्वरूप काव्य की परिभाषाएँ बनती और बदलती रही हैं । इसीलिये सर्वमान्य और सर्वकालीन परिभाषा का अभाव भी बना रहा है । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कविता मानव के मन-मस्तिष्क के मंथन का परिणाम है । कविता का सम्बन्ध व्यक्ति की रागात्मक अनुभूतियों (हृदय पक्ष) से सदैव रहा है और रहेगा । यह काव्य का चिरन्तन और अनिवार्य लक्षण है । कविता का स्वरूप आज (जैसा कि हिन्दी की नई कविता में दिखाई देता है) कुछ भी हो; उसके रूप विधान, शिल्प, भाषा, छन्द आदि सभी में परिवर्तन हो जाय, किन्तु उसके आतम संठगन में अनुभूति तत्व की स्थिति अवश्यंभावी बनी रहेगी । अस्तु ! यह कहना अधिक संगत होगा कि काव्य **मानवीय भावनाओं की बौद्धिक अभिव्यक्ति है ।**

काव्य के भेद—स्थूल दृष्टि से काव्य, एक ओर पूर्ण है किन्तु मनोवृत्ति की भिन्नता के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप में भी भिन्नता आ जाती है । अभिव्यक्ति की यही भिन्नता काव्य रूपों के विकास की मूल प्रेरणा हैं । तात्विक दृष्टि से रूप-वैभिन्नय होते हुये भी सभी काव्य-रूपों में काव्यात्म-तत्व (अनुभूति) की स्थिति मूलतः एक ही है । काव्यविभाजन के विभिन्न आधार हैं—जैसे-बन्ध, व्यंजना, आनन्दानुभूति के माध्यम इत्यादि ।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के दो स्थूल भेद माने हैं—दृश्यकाव्य और श्रव्य काव्य । दृश्यकाव्य का सम्बन्ध नेत्रेन्द्रिय से है । रंगमंच पर अभिनीत होने वाले नाटकादि इसी श्रेणी

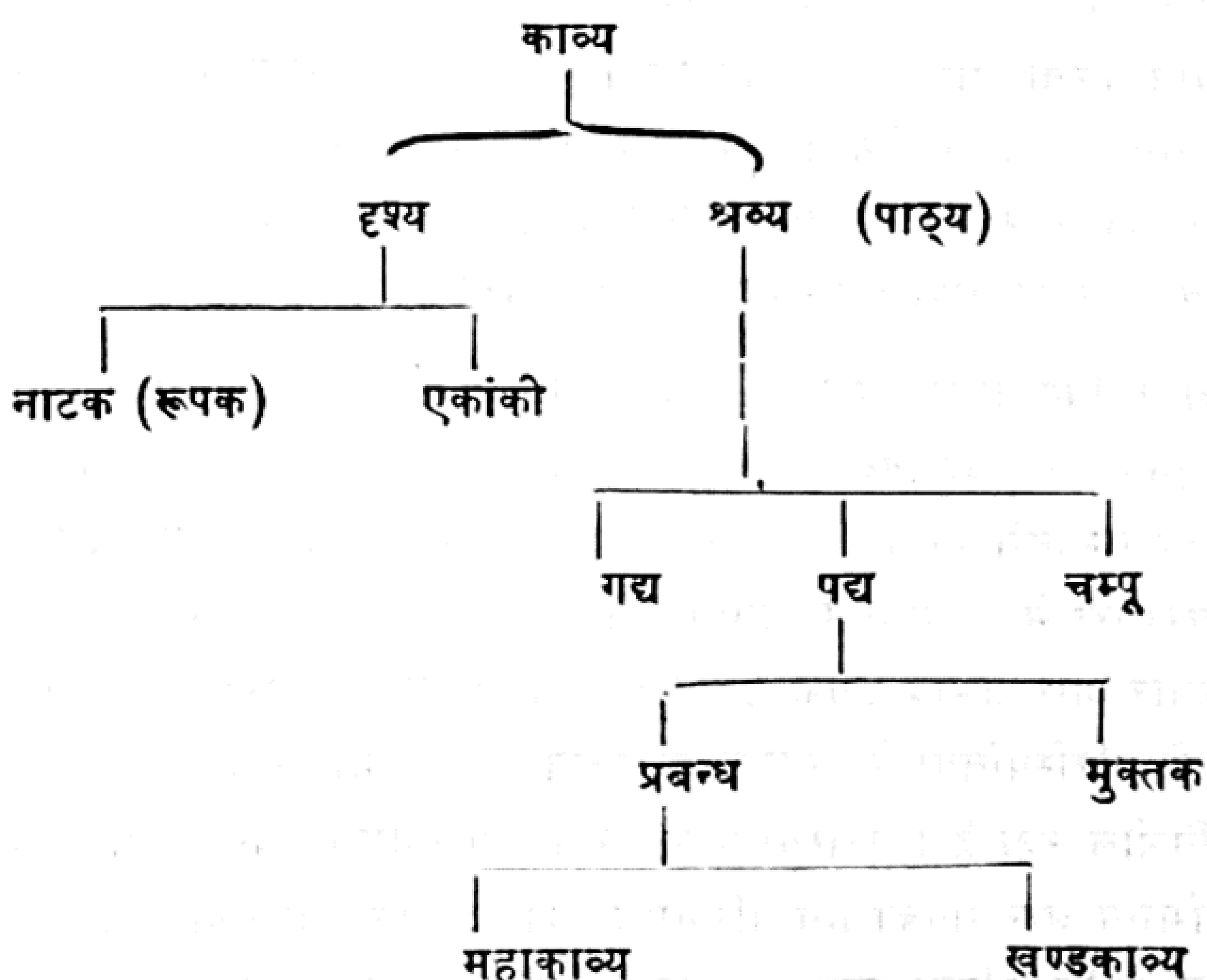
---

२४. "काव्य और कविता" शीर्षक निबन्ध

२५. Poetry must be simple, sensons & passionate, —Milton

२६. चिन्तामणि भाग–१–पृष्ठ १४६

के अन्तर्गत आते हैं। श्रव्यकाव्य को पाठ्य भी कहा जाता है। इसका रसास्वादन श्रवणेन्द्रियों द्वारा होता है। श्रव्यकाव्य पुनः भेदोपाभेद किये गये हैं जिन का रेखाचित्र निम्नांकित प्रकार से होगा—



पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य के दो प्रमुख भेद किये हैं :—

१—विषयीगत (Subjective Poetry)

२—विषय गत (Objective Poetry)

अ—विषयीगीत काव्य के उपभेद—

१—दार्शनिक एवं विचारात्मक गीत (Meditative hyrics)

२—सम्बोधन गीत (Ode)

३—दुखात्मक गीत (Elegy)

४—पत्रगीत (Epistle)

५—व्यंग्य गीत (Satire)

६—वणर्नात्मक गीत (Descriptive poetry)

आ—विषयगत काव्य के पुनः दो भेद किये गये हैं :—

(क) वर्णनात्मक कविता जिसके अन्तर्गत आते हैं :—

१—वीर गीत (Ballads)

२—महाकाव्य (Epic)

३—छंदवद्ध रोमांचकारी कथाएं (Metrical Romance)

४—कविता में यथार्थवाद (Realigm in Romonce)

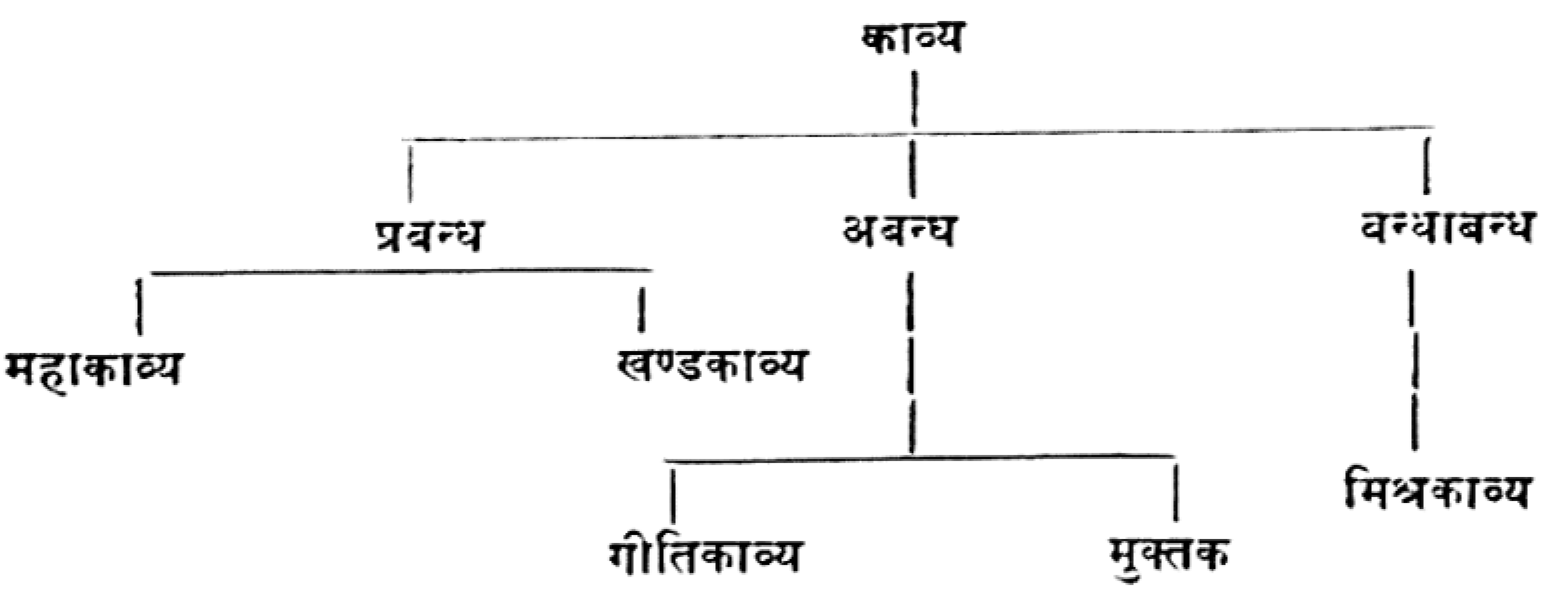
(ख) अभिनयात्मक काव्य—जिसके अतंगंत आते हैं :—

१—नाट्यगीत (Dramtic lyrics)

२—नाट्यगीत (Dramtic story)

३—नाट्य स्वागत (Dramtic Monoloige or Solilquoy)

डा० श्यामसुंदरदास ने कविता का विभाजन विषयप्रधान (भौतिक) और आत्माभियंजक (व्यक्तित्व प्रधान) नामक रूपों में किया है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य के दो रूप बताये हैं—अनुकृत या प्रकृति (Initiatvie or Realistic) तथा अतिरंजित या प्रगती (Exaggerative or lyrical)[2] शुक्लजी की मान्यता की विशेषता यह है कि उन्होंने सफल प्रबंधकाव्य को ही महाकाव्य माना है। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य का वर्गीकरण प्रबंध, निबंध और निर्बन्ध नामक तीन रूपों में किया है। [3] डा० शकुंतला दुबे ने बंध के आधार पर प्रबंध, अबंध बंधाबंध रूपों में किया है[4] इसी प्रकार के वर्गीकरण डा० श्रीकृष्णलाल[5]



और बाबू गुलाबरायजी ने भी अपने ग्रन्थों में दिये हैं।[6]

काव्य रूपों का विकास निरंतर हो रहा है। कुछ काव्य रूप जैसे महाकाव्य आदि तो परम्परा से चले आ रहे हैं किंतु नये काव्यरूपों का विकास युग की आवश्यकता एवं अभिव्यक्ति की अनेकरूपता के परिणाम स्वरूप भी हुआ है। वर्तमान युग को साहित्य के इतिहास लेखकों ने 'गद्य युग' अभिधान दिया है। क्योंकि इस युग में गद्य के विकास के साथ-साथ गद्य रूपों का विकास भी अभूतपूर्ण गति से हुआ है। आज गद्य के विविध रूपों में उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, गद्यकाव्य आदि के अतिरिक्त जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र, रिर्पोताज, संस्मरण, एकांकी, पत्र-पत्रिकाएँ आदि विभिन्न नये रूप विकसित हो

१—साहित्यालोचन—(कविता के विभाग)

२—गोस्वामी तुलसीदास—पृष्ठ ७५–७६

३—वाङ्मय विमर्श—पृष्ठ ३३.

४—काव्य रूपों के मूलस्रोत और उनका विकास—पृष्ठ ४१

५—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ६७

६—काव्य के रूप—पृष्ठ ८

रहे हैं ।[1] गद्य के प्रसार के साथ-साथ कविता के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं जिससे नित नये काव्यरूप (भेद) हमारे सामने आ रहे हैं। वास्तव में कविता का सम्बन्ध मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से है । युग—बुद्धि का हो या विज्ञान का, या गद्य का, जब तक मानव के हृदय में संवेदन-तत्व विद्यमान हैं तब तक उसकी आत्मानुभूतियां स्पन्दित होकर काव्य-रचना के उपकरण जुटाती रहेंगी । समष्टि रूप में हम कह सकते हैं कि मानव की जो रागात्मिका शक्ति काव्य की जननी है वही रुचि, अभिव्यक्ति, शैली-शिल्प आदि के माध्यम से विविध काव्य रूपों की जननी भी है ।

---

१. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत–भाग–१—पृष्ठ १३५

सौंदर्यानुभूति

४

श्री माधव जाउलकर,
एम० ए०, एल-एल बी० 'साहित्यरत्न'

सौंदर्य भावना मानव-मन की एक ऐसी सूक्ष्म, मायाविनी, रमणीय एवं आकर्षिणी शक्ति है, जो कि अपनी सगुणात्मक चमत्कृति से वस्तुओं एवं विषयों को रूपायित कर, उन्हें अपरिसीम और अनिर्वचनीय सौंदर्य-सत्ता से सम्बन्धित कर सौंदर्यानन्द का अजस्त्र स्त्रोत प्रवाहित करती है, जिसमें कि मानव-मन आनन्दित एवं चमत्कृत हो अपनी सौंदर्य रसास्वादन की तृष्णा की परितृप्ति करता है। मानव, प्रकृति, वस्तुओं तथा ललित कलाओं के आकर्षक एवं चमत्कृत करने वाले आनन्ददायक गुण या भाव का नाम सौंदर्य है। सुन्दरता सुन्दर का गुण है एवं सौंदर्य उसका भाव प्रस्पुष्टिकारक शब्द। भारतीय सौंदर्यशास्त्री डा० हरद्वारीलाल शर्मा के मतानुसार अपनी अनुमति-प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना आदि-द्वारा आनन्द उत्पन्न करने वाले गुण को सौंदर्य और उस वस्तु विशेष को सुन्दर कहते हैं।[1]

सौंदर्य

सौंदर्य के संबंध में भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने काफी विचार किया है एवं सौंदर्य की उनके परिभाषाओं में बांधने व उसके गुण-धर्म-विशेषताएँ निश्चिय करने के प्रयास किए हैं, किन्तु कदाचित ही कोई परिभाषा सौंदर्य के समग्र रूप को अभिव्यञ्जित करने में सफल हुई हो। प्रमुख रूप से सौंदर्य विपयक चर्चा निम्न चार दिशाओं में या प्रकारों में हुई हैं :—

(१) केवल रूपाकार में सुन्दर की खोज।
(२) वर्ण सौंदर्य तथा उपयोग-सौंदर्य का अन्वेषण।
(३) मानस सौंदर्य की खोज, तथा
(४) नैतिकता और ईश्वरीय शक्ति की स्वीकृति में सुन्दर की खोज,

इस प्रकार सौंदर्य विवेचकों में से किन्हीं विचारकों ने बाह्य रूप के गुण-धर्मों का संकेत कर विवेचन किया है। किन्हीं ने सौंदर्य की आवश्यकता एवं उपयोगिता से सम्बद्ध किया है, किन्हीं ने मानव-मन को सौंदर्य स्रष्टा घोषित किया है तथा किन्ही ने ईश्वर या सत्यं एवं शिवं के साथ सौंदर्य को समन्वित किया है। अनेक विचारकों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण कर समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी अपनाया है एवं इसी दृष्टिकोण से सौंदर्य का

---

१. सौंदर्यशास्त्र : डा० हरद्वारीलाल शर्मा, (१९५३ ई०), पृ० १०

समग्र स्वरूप बोध किया जा सकता है। यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत सौंदर्य के स्वरूप बोध का विवेचन अभिप्रेत नहीं है, तथापि अध्ययन की सुगमता के लिए यह समझना आवश्यक है कि सौंदर्य सृष्टि के लिए वस्तु एवं द्रष्टा-दोनों का महत्व हैं। वस्तुओं एवं विषयों का सौंदर्य-विवेचन करते हुए विचारक-विद्वानों ने सम्मात्रा (आर्डर), एकरूपता (यूनीफार्मिटी), औचित्य (प्रोप्राइटी), सगति (हारमौनी), प्रमाणबद्धता (प्रोपोर्शन), मसृणता (स्मूथनेस), वर्ण-प्रदीप्ति (कलरिंग) आदि विविध गुण स्वीकार किए हैं। मानव-मन से सौंदर्य का संबंध निश्चित करने वाले विचारक मन की वृत्ति; रुचि, साहचर्य, प्रेम आदि को सौंदर्य-बोध का कारण मानते हैं। चेरबुलीज के अनुसार सौंदर्य वस्तुओं में नहीं होता वरन् आत्मा का एक व्यापार है।[1] भारतीय नट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत के अनुसार सौंदर्य सामाजिक के मन में रहता है। वासना के अभाव में प्रेक्षागृह में बैठे व्यक्ति काष्ठवत् हैं।[2] वस्तुतः ये दोनों दृष्टिकोण एकांगी हैं तथा सौंदर्य के स्वरूप बोध के लिए वस्तुवादी और अनुभूतिवादी दृष्टि-कोण, आलम्बन और आश्रय दोनों ही आवश्यक है। काष्ट, टाड हण्टर, ह्यूम, लेवोक, लियो-तात्सताय आदि पाश्चात् विचारकों तथा भारतीय विचारकों में आचार्य भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, आदि रसवादी आचार्यों, क्षेमेन्द्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० आत्रेय, डा० सम्पूर्णानन्द, डा० हरवंशसिह शास्त्री आदि ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को हीअपनाया है।

सौन्दर्य भावना

सौंदर्य की ललक मनुष्य में जन्मजात होती है। मनुष्य के मन में सौंदर्य भावना का जन्म कब हुआ, किस समय हुआ और किस रूप में हुआ, यह एक अत्यन्त विवादास्पद विषय है। सौंदर्य बोध की प्रवृत्ति के विकास का पता तो थोड़ा-बहुत लगाया भी जा सकता है, किन्तु सौंदर्य भावना की उत्पत्ति ज्ञात करना अत्यन्त कठिन है। तथापि यह कहा जा सकता है कि मनुष्य मन में सौंदर्य भावना का जन्म मानव जीवन के उषाः काल में ही हो गया होगा और शनैः शनैः मनुष्य की सौंदर्य भावना उत्तरोत्तर विकास पाती गई और परिष्कृत, परिनिष्ठित, सुसंस्कृत एवं उन्नत होती गई। मनुष्य युगों से सूर्य और चन्द्रमा और प्रकृति के नानारूपात्मक सौंदर्य को सराहता आया है। सौंदर्य भावना सामाजिक शब्द सौंदर्य एवं भावना शब्दों के योग से बना है। सौंदर्य के स्वरूप बोध के संबंध में संक्षिप्त विवेचन हो जाने के उपरान्त भावना शब्द पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। भावना के कोशगत अर्थ चिन्तन, ध्यान, स्मरण, अनुसंधान, कल्पना[3] व स्मृति और अनुभव से उत्पन्न चित्त का एक संस्कार, मनसा विचार कल्पना, ध्यान, विचार, इच्छा, चाह[4] तथा अनुभव और स्मृति से

---

१. कला है ? : लियो तातसताय (१९५५), पृ० ६२

२. सवासनानाम् सभ्यानाम् रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठ कुड्याम सन्निभाः ।।

नाट्य-शास्त्र : भरत

३. वृहद हिन्दी कोश; ज्ञान मण्डल, काशी (सं० २००९), पृ० ९७३

४. भाषा शब्द कोश, डा० रामशंकर शुक्ल शुक्ल रसाल, (सन् १९५१ ई०), पृ० १४०९

मन में उत्पन्न होने वाला कोई विकार, ध्यान विचार, ख्याल[1] आदि हैं। भावना मन का एक कार्य व्यापार है, जिसके द्वारा मानसिक शक्तियों के सहयोग से मन में विषय का बिम्ब चित्रित होता है। आचार्य प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले इसी को भावना कहते हैं।[2] मानसिक प्रतिच्छायाओं के आधार पर नवीन भावात्मक चित्रों की सृष्टि करना भावना का ही कार्य है। भावना मन में सौंदर्य चित्रों के कलेवर को सजाती है। मनुष्य के मानसिक जगत की इस मनोहारिणी भावना के स्पर्श से सौंदर्य का सृजन हो जाता है, रूप की सृष्टि हो जाती है। पाश्चात्य विचारक क्रास के अनुसार भावना का व्यक्तिगत रूप में आविर्भाव ही सच्चा वास्तविक सौंदर्य हैं।[3] विश्चेर के मतानुसार भी सौंदर्य भावना का रूपान्तर है।[1] दार्शनिक हीगेल के कथनानुसार भी भावना का भौतिक पदार्थ में प्रकाशन ही सौंदर्य है।[2] जर्मन विद्वान् ग्रूस ने सौंदर्य भावना को Assumption feeling कहा है।[3] काष्ट के मतानुसार पदार्थ स्वयं सुन्दर होता है न असुन्दर। इंन्द्रियां सौंदर्य का आरोपण करती हैं और इसका आधार व्यक्ति या समष्टि की सौंदर्य भावना रहती है।[4]

सौन्दर्य भावना का उन्मेष स्थूल सौंदर्य के दर्शन से, श्रवण से या रस, स्पर्श व गंध से भी हो सकता है तात्पर्य है कि सौंदर्य भावना स्वयं सूक्ष्म है, स्थूलता से परे है किन्तु साथ ही वास्तविक एवं सत्य है तथा स्थूल से भी इसका उन्मेष हो सकता है। साथ ही सौंदर्य के मानसिक चिन्तन, विचार व मनन से भी सौंदर्य भावना का उन्मेष हो सकता है। सौंदर्य भावना गुणात्मक चमत्क्रति है निगुणात्मक अभाव जैसी कि शून्यवादिता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सौंदर्य भावना मानव-मन की वह प्रक्रिया है जो सौंदर्य बोध कराती है तथा जिसमें सौंदर्य बोध कराने की सौंदर्य को रूपायित करने की तथा सौंदर्य का उन्मेष करने की क्षमता होती है। कवि या कलाकार की सौंदर्य भावना जितनी व्यापक होगी, उसके काव्य में सौंदर्याभिव्यक्ति उतना ही उत्तम होगी।

सौंदर्य भावना सामाजिक है। "भिन्न रुचहि लोकाः" न्याय के अनुसार यद्यपि मनुष्यों की सौंदर्य विषयक रुचियों में विभेद हो सकता है तथापि युग, देश, काल व समाज की एक

---

१. प्रामाणिक हिन्दी कोश: सं० रामचन्द्र वर्मा, (वि० सं० २०८), पृ० ६६७
२. रस-मीमांसा: आचार्य रामचंद्र शुक्ल, (सं० २००६), पृ० २६
३. कला क्या है ? : लियो तालसताय, (१९५५), पृ० ६१
४. कला क्या है ? : लियो तालसताय, (सन् १९५५), पृ० ६३
५. वही, पृ० ५२
६. The aesthetic feeling is no longer a judgement feeling, neither is it merely a presenlation feeling but rather a assemption feeling.

सौंदर्यशास्त्र : डा० हरद्वारीलाल शर्मा, (१९५३ ई०) पृ० ५१

७. समालोचक सौंदर्यशास्त्र विशेषाक : सं० डा० रामविलास शर्मा, (१९५८), पृ० ३६
८. श्रीयुत वंशीदास जी महाराज, (श्री हित आश्रम, वृन्दावन) द्वारा पत्र से लेखक को प्रेषित

व्यापक सौंदर्य भावना के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता । आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार "मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुंची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौंदर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं । भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा मे पाया जाता है । न सुन्दर को कोई एक बारगी कुरूप कहता है और न बिल्कुल कुरूप को सुन्दर ।"* सौंदर्य भावना के सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि सौंदर्य भावना सामाजिक होने के साथ ही साथ सर्वजनीन भी है । सौंदर्य भावना केवल मनुष्य-मात्रा की थाती ही नहीं है, अपितु समस्त प्राणिमात्र की सम्पति भी है । आदरणीय पंडित किशोरीदास जी वाजपेयी के मतानुसार केवल मनुष्य मात्र में ही सौंदर्य भावना विद्यमान रहती है, पशुपक्षियों में नहीं ।[1] इस सम्बन्ध में निवेदनीय है कि यह समीचीन नहीं है तथा अनेक दार्शनिक विचारकों के विचारों के आलोक में यह मत भ्रान्त सिद्ध हो जाता है । विकास सिद्धान्त के संस्थापक चार्ल्स डारविन ने सौंदर्य विषयक विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है, कि सुन्दर पंखों वाले नर पक्षी अपने बहुरंगी पंखों का प्रदर्शन कर मादा पक्षियों को प्रसन्न करते हैं तथा उन्हें ऋतु विशेष में अपने संगीत द्वारा आकर्षित करते हैं । इन तथ्यों का उल्लेख करते हुए डारविन ने आगे लिखा है कि यदि मादा पक्षी अपने नर साथियों के सुन्दर रंगों आभूषणों और स्वर के आकर्षण को पहचानने में असमर्थ हों तो उनके सामने अपने आकर्षण प्रदर्शित करने में, उनकी जो चिन्ता और श्रम प्रकट होते हैं, वे सब व्यर्थ जायं और यह स्वीकार करना असम्भव है ।[1] डारविन के विचारों को देखते हुए कहा जा सकता है कि सौंदर्य भावना प्राणिमात्र में विद्यमान है ।

सौंदर्यानुभूति :

सौंदर्यानुभूति के विषय में विद्वानों की विविध मान्यताएँ हैं । कुछ विद्वान हृदय मे, कुछ आत्मा में, कुछ अन्तःकरण में, कुछ चित्त में तथा कुछ मन में सौंदर्यानुभूति का होना मानते हैं । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सौंदर्यानुभूति वस्तुतः मन में ही होती है । उल्लेखनीय है कि सौंदर्य भावना समूचे मन में नहीं वरन् उसके विशिष्ट स्तरों से सम्बद्ध है । अतः वैज्ञानिक दृष्टि से सौंदर्यानुभूति का विवेचन करने के लिए "मन" का अध्ययन आवश्यक है । भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों द्वारा मन का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया गया है । योगवाशिष्ट में मन के विषय में उल्लिखित है, कि 'मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः । स्वरूपं सर्व कर्तृत्व मनसो मने ।।' मन की इतनी महत्ता होने के साथ ही साथ मन के अध्ययन विश्लेषण में बाधा यह है कि मन अत्यन्त चंचल है ।[3] जिस रूप में आज मनोविज्ञान उपलब्ध है वह पश्चिम की उपज है और लगभग २०० वर्ष पुराना हैं । आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को जड़वादी एवं चेतनावादियों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम वर्ग

---

* रसमीमासा : रामचन्द्र शुक्ल, (सं० २००६), पृ० ३०

१. समालोचक सौंदर्यशास्त्र विशेषांक, (१९५८) (सौंदर्य और भाषा का सौंदर्य-लेखक पंडित किशोरीदास वाजपेयी पृ० २४

२. समालोचक-सौंदर्यशास्त्र विशेषांक (१९५७) (सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास—डा० रामविलास शर्मा पृ० १८१.

३. द्रष्टव्य :—चंचलं हि मन : कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम ।
श्री मद्भगवद्गीता ६।३४, पृ० १०३

मन को जड़ पदार्थ का एक रूप व द्वितीय वर्ग, चेतन रूप मानता है। डा० सिगमण्ड फ्राइड द्वारा अचेतन मन की शोध मनोविज्ञान के लिए एक महत्वपूर्ण देन है। जुंग ने डा० फ्रायड के मनोविश्लेपण और स्तरीकरण को और आगे बढ़ाया है। जुंग ने मन को अमर मानकर उसके स्वरूप का वैसा ही वर्णन किया है, जैसा कि उपनिषदों में आत्मा का।[1] पश्चिम में आत्मा और मन का व्यतिरेक नहीं किया गया है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत योगशास्त्र में मन को अन्तःकारण की ४ वृत्तियों-मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार-में स्थान दिया गया है, जबकि नैयायिकों ने "सुखदुःखाद्य पलब्धि साधनमिन्द्रियं मनः" माना है।

फ्रायड के अनुसार मन के दो स्तर होते हैं चेतन मन व अचेतन मन तथा इन दोनों के बीच अर्धचेतन नैतिक मन है। फ्रायड ने अचेतन मन को अमित शक्तिशाली, स्वार्थी व बहुमुख कहा है। मानव मस्तिष्क का तीन चौथाई अंश इसी अचेतन की परिधि के अन्दर है और मनुष्य के विचार उसके व्यवहार तथा सहन के ढंग की स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता का मूल प्ररक यही है।[2] युंग ने अचेतन मन के दो भाग माने हैं व्यष्टि सम्बन्धित और समष्टि सम्बन्धित। व्यष्टि अचेतन मन अनैतिक है किन्तु समष्टि अचेतन मन पूर्णतः नैतिक है। सौंदर्यभावना का सम्बन्ध समष्टिगत अचेतन एवं अवचेतन से है। डा० देवराज उपाध्याय समष्टि अचेतन मन को ही समस्त सौंदर्य प्रियता का मूल स्रोत मानते हैं,[3] जबकि डा० सुरेन्द्र-नाथ दासगुप्त के मतानुसार उपचेतन का किसी भी प्रकार का विशिष्टजातीय आत्मपरिचय या आत्मलाभ ही सौंदर्य होता है।[4] डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित के अनुसार "सौंदर्य का बहुत सम्बन्ध हमारे उपचेतन से है।[5]

सौंदर्यानुभूति मन में सौंदर्य की अनुभूति ग्रहण करने की प्रक्रिया है। अनुभूति करने का अर्थ है कि संवेदन पुरस्सर किसी बात को बाह्यक्षेत्र से बौद्धिक वाहन के द्वारा आन्तरिक क्षेत्र में ला उतारना। मानव मन में सौंदर्यानुभूति तर्कयुक्त बुद्धि द्वारा न होकर भावना द्वारा होती है, किन्तु इस अनुभूति के लिए बुद्धि की सहायता भी अपेक्षित है। बुद्धि मन की विविध अनुभूतियों को सुस्पष्ट बनाती है। बुद्धि सत्य को विशद बनाती है और भावना

---

१. The psyche may be regarded as a mathematical point and at the same time as a univere of fixed stars. It is small wonder then, if to the unsophisti cated, mind such a paradoxical being borders on the divine. It occopics no space it has no body. Bodies die, but can something invisible and incarporcal disappear.

जुंग-द माडर्न मैन इन सर्च आफ ए सौल, पृ० २१३.

२. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञानः डा० देवराज उपाध्याय, (१९५६ ई०) पृ० २६

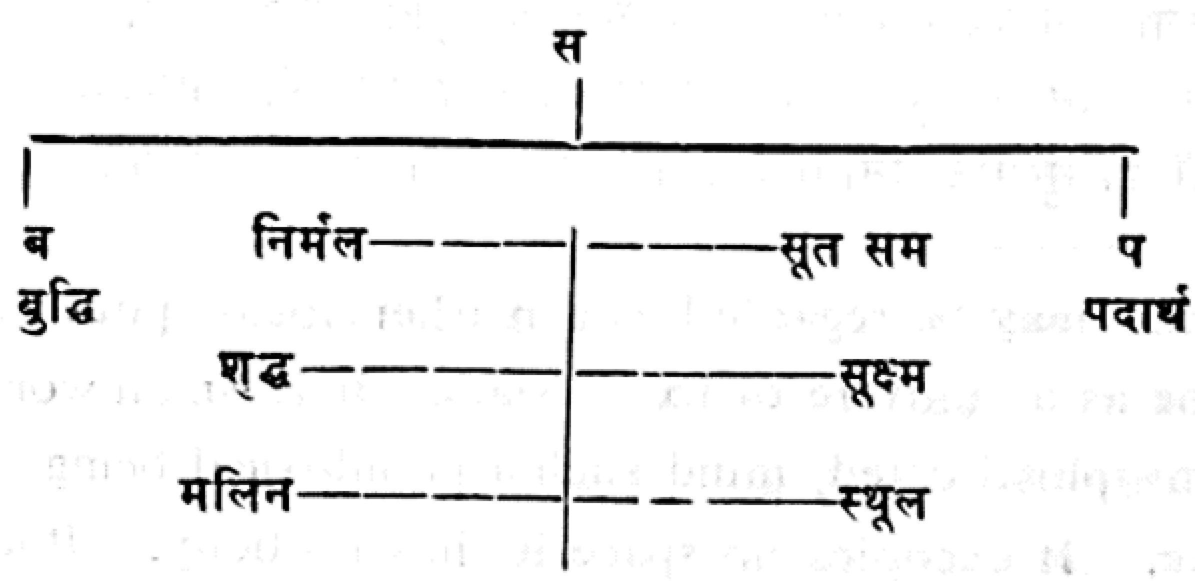
३. वही पृ० ४३

४. सौंदर्य तत्वः डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (अनु० डा० आनन्व प्रकाश दीक्षित), (सं० २०१७ वि०), पृ० ६७

५. वही, (भूमिका), पृ० ५६.

उसको हृदयंगम करके उसका आस्वादन करती है । बुद्धि और भावना का वही सम्बन्ध है जो सत्य और सौंदर्य का है । कालरिज के मतानुसार सौंदर्यानुभूति तर्क अथवा विश्लेषण की वस्तु न होकर सहज शक्ति प्रदत्त अनुभूति की वस्तु है, जो तुरन्त आत्मा पर अपना प्रभाव डालती है । मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सौंदर्यशास्त्र के अन्तर्गत सौंदर्यानुभूति मन की सौंदर्योंमुख अवस्था विशेष से उपजती है । "डा० दासगुप्त सौंदर्यबोध को मन की एक ऐसी विशिष्ट अनुभूति मानते हैं, जिसमें ज्ञान आह्लाद तथा क्रियात्मक वृत्तियों का संयोग रहता है और जिसका स्वरूप-लक्षण उपस्थिति नहीं किया जा सकता । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सौंदर्यानुभूति के सम्बन्ध में लिखा है कि "कुछ रूपरंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणित हो जाते हैं । हमारी अन्तहसत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है ।[4] साथ ही आचार्य शुक्ल के अनुसार "किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जायगी ।[5] डा० सम्पूर्णानन्द ने सौंदर्य को सामान्य दृष्टा से अभिन्न बतलाते हुए जगत को मूल चिदानन्द धन के स्वरूप की प्रतीति बताया है । [6] डा० सम्पूणानन्द ने निर्मल अन्तः कारण को सौंदर्य-सृष्टि का कारण मानते हुए निम्न चित्रलेख से सौदयानुभूति की क्रिया समझाई है :— प पदार्थ है जो मलिन बुद्धि के कारण स्थूल दिखाई देता हैं, बुद्धि शुद्ध होने से सूक्ष्म हो जाता है, बुद्धि के निर्मल होने से सूतसम सूक्ष्म हो जाता हैं तथा अविधा नाश से बुद्धि और वस्तु स पर

सौंदर्यानुभूति



१. सौंदर्यशास्त्र : डा० हरद्वारीलाल शर्मा (१९५३ ई०), पृ० ६२
२. रोमांसवादी साहित्यशास्त्र : डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा, (१९५७ ई०), पृ० २१
३. सौंदर्य तत्व : डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, (सं० २०१७ वि०) पृ० ५४
४. रसमीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल- (सं० २००६) पृ० २६
५. वही, पृ० ३०
६. दर्शन और जीवन : सम्पूर्णानन्द (१९५२), पृ० १७८

मिलकर सौदन्र्यानुभूति कराते हैं। डा० सम्पूर्णानन्द के मतानुसार सौंदर्यानुभूति काल में मानव भौतिक वस्तु को नहीं वरन् उस गुण, उस भाव को देखता है, जो उस समय उस वस्तु में से क्षारित होता है। पन्डितराज जगन्नाथ ने सौन्दर्य को अनुसंधानात्मक कहा है। सुन्दर वस्तु के साथ मानव मन का प्रगाढ़ परिचय एवं सम्बन्ध स्थापना ही अनुसंधान है और यही सौन्दर्यानुभूति का कारण है। सुन्दर के साथ भावना की समरसता ही सौदर्यानुभूति की स्थिति है।

निम्न पंक्तियों में..सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया स्पष्ट की गई है।..मानव मन में सौंदर्य भावना का उन्मेष मुख्यत: दो प्रकार से होता है :—

(१) पंचेन्द्रियों द्वारा वाह्य रूपाकार का ज्ञान प्राप्त कर, तथा

(२) मानसिक सौंदर्यास्वादन से

दोनों ही कारणों से सौंदर्य भावना जाग्रत होती है तथा उत्कट अवस्था को प्राप्त होकर सौन्दयानुभूति कराती है। स्थूल सौंदर्य का अनुभव कराने में मनुष्य की रूप, रस, गंध, स्पर्श व शव्द से सम्बन्धित पंच ज्ञानेन्द्रियाँ सहायक होती हैं। सुन्दर रमणी के सौन्दर्य का दर्शन नेत्रेंद्रिय करती हैं, कर्णेन्द्रिय सुमधुर संगीत का श्रवण करती हैं, गन्धेंद्रिय (नासिका) सुरभित पुष्प का सुवास ग्रहण करती है, रसनेंद्रिय विविध रसों का आस्वादन करती है तथा त्वंगिंद्रिय सुखमय स्पर्श का अनुभव करती है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां सौंदर्य की अनुभूति को मस्तिष्क तक ले जाती है और सौंदर्य भावना उन्मेष करती हैं। सौंदर्य भावना के उन्मेष का दूसरा कारण है मानव मन का सौंदर्य सम्बन्धी स्मृति, चिन्तन, विचार, धारणा एवं कल्पना। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रथम को प्रत्यक्ष रूप विधान व द्वितीय को स्मृत रूपविधान तथा सम्भावित या कल्पित रूपविधान नाम से अभिहित किया है। उपयुक्त दोनों प्रकारों-इंद्रिय-बोध तथा मानसिक सौंदर्यास्वादन-का सौंदर्य भावना से निकट का सम्बन्ध है तथा ये सौंदर्य भावना जव सुन्दर के साथ घुलमिलकर एकाकार हो जाती हैं तो उनमें समरसता स्थापित हो जाती है जो सौंदर्यानुभूति की प्रथम सीढ़ी है। सुन्दर के साथ सौन्दर्य भावना की समरसता के पश्चात् जव अन्य भावनाओं का लोप हो जाता है, केवल सौंदर्य भावना चरम उत्कटता को प्राप्तकर विकास करती है, और मानव मन की समस्त वृत्तियां केवलमात्र सौन्दर्य भावना में केन्द्रित हो जाती हैं तव सौंदर्यानुभूति से मन आलोकित, पुलकित व आनंदित हो उठता है। सौंदर्य शास्त्रियों ने इस स्थिति को समघातता (Synaestheis) कहा है।[1] सौन्दर्यानुभूति में द्वैत भाव नष्ट हो जाते हैं और मन सौंदर्य के साथ एकाकार हो अनिर्वचनीय आनन्द सागर में अवगाहन करने लगता है क्योंकि सौंदर्य आनन्द की उत्समूमि है और सौंदर्य व आनन्द का घनिष्ट सम्बन्ध है।

---

१. वही, पृ० १७८-१७९

२. Faundation of aesthetics : I. s. Richards (chapter on synaesthesis)

५

टी एस० इलियट, के काव्य सिद्धान्त

प्रो० डा० कृष्णकुमार शर्मा

[टी० एस० इलियट उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध पाश्चात्य कवि हैं, इलियट का देय, कवि की हैसियत से ही नहीं, समीक्षक और विचारक की दृष्टि से भी महत्व है। काव्य की प्रक्रिया, भाषा, पाठक और सृजेता, आलोचना आदि काव्य के सभी अंगों पर श्री इलियट ने विचार किया है। पाश्चात्य काव्यालोचन के क्षेत्र में श्री इलियट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने कवि, कविता और आलोचना तीनों को प्रभावित किया है। काव्यालोचन भी उनकी मौलिक स्थापनाएँ है। इस निवन्ध में श्री इटिलयट की इन्हीं मान्यताओं को प्रस्तुत किया जा रहा है।]

कविता :—

श्री टी० एस० इलियट के काव्यालोचन के सिद्धान्तों को जानने के लिये हम सर्वप्रथम उनकी काव्य सम्बन्धी मान्यता को प्रस्तुत करेंगे। श्री इलियट, कविता को अनिवार्य रूप से आनन्द प्रदायिनी मानते हैं। अवश्य ही कविता का आनन्द वही प्राप्त कर सकेगा जो उसे समझता हो, उसकी प्रसंशा कर सकता हो। इस आनन्द को स्पष्ट करते हुए श्री इलियट ने कहा है कि यह ऐसा हैं जो अच्छी कविता द्वारा प्राप्त हो सकता है। यह सम्भव है कि कुछ व्यक्ति कविता को कविताजनित आनन्द के लिये न पढ़कर अन्य किसी कारण से पढ़ें। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वह कविता जिसने स्वयं कवि के अतिरिक्त कभी किसी अन्य को आनन्द नहीं दिया सामाजिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती।[1]

परन्तु, यही तथ्य अनेक शंकाओं को जन्म देता है। यदि किसी कवि की कविता ने अन्य कवि की कविता की अपेक्षा अधिक पाठकों को आनंद दिया हो, तो क्या उसका सामाजिक महत्त्व अधिक होगा ? कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई कवि अपने समय में बहुत अधिक पढ़ा गया हो, परन्तु अब उसे कोई नहीं पढ़ता जबकि दूसरा कवि अपने समय में

1. It is obvious that a form which has never given any pleasure to anyone but the anther, can have no social function at all (Page 110 critiques and other essays in literary criticism)

बहुत कम पाठकों द्वारा हुआ, परन्तु, निरंतर कुछ पाठकों द्वारा प्रशंसित होता ही रहा है, प्रत्येक पीढ़ी में वह पढ़ा गया (ऐसी स्थिति में क्या यह कहा जा सकेगा कि प्रथम का सामाजिक महत्त्व द्वितीय की अपेक्षा अधिक है ? क्या यह सच ही है कि प्रथम का कार्य अस्थाई था जब कि दूसरे के कार्य में स्थैर्य का गुण था । श्री इलियट के अनुसार कविता का आनंद देने का व्यापार तब तक चलता रहना चाहिये, जब तक उस भाषा के समझने वाले हैं जिसमें कविता लिखी गई हैं ।

इस योग्यता के अनुसार और यह महसत्ता भी है कि महान कवि वे हुए हैं जिन्होंने समय के अनवरत प्रवाह में स्थिर रह कर अधिक से अधिक और भिन्न-भिन्न मानवों को आनंद दिया है ।

कविता, दर्शन अथवा धर्म का स्थानापन्न नहीं है । कविता की अपने में पूर्ण एक अलग प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया वैचारिक नहीं है वरन् भावनात्मक है ।

कविता के इस मूल्य को समझने के लिये श्री इलियट यह आवश्यक मानते हैं कि कविता में गति-लय, ध्वनि और शब्द के भाव को समस्त रूप में ग्रहण किया जाय । श्री रिचार्ड के कथन को पुष्ट करते हुए इलियट ने कहा है 'कविता महत्त्वपूर्ण है, यह नहीं कि वह क्या कहती है । और कविता क्या अभिव्यक्त करती है इसे जानने का रास्ता है कि उन सभी नियमित तत्वों-जिनसे कविता का निर्माण हुआ है—के प्रति पाठक स्थिर जागरुकता रखे । इस प्रकार कविता को समग्र रूप से अनुभूति का विषय बनाया जाय और उसका मूल्याङ्कन पाठक अपने भीतर पढ़ने वाले प्रभाव के आधार पर करे । इलियट का कथन है कि किसी कविता की जीवंतता को परखने के लिए पाठक को अपनी चेतना पर पड़ने वाले प्रभाव को ही प्रमाण मानना चाहिए । इस क्रम से यह भी ज्ञात हो जायगा कि उस कविता का कवि अपने समय के बोध से मुक्त है अथवा नहीं, वह मानव के सम्बन्ध में जो कुछ सोचता, समझता है वह जीवन से ग्रहण किया हुआ है अथवा नहीं ।

कविता की आलोचना करते समय हमें मुख्य रूप से कविता पर ही विचार करना चाहिए अन्य किसी बात पर नहीं ।

कविता, कला है, जो अपने में जीवंत है रचयिता से भिन्न और उस विचार अथवा विश्वास से भी भिन्न है, जो वह व्यक्त करती है ।

कवि और सृजन प्रक्रिया—

श्री इलियट के अनुसार कवि दो प्रकार के होते हैं । बुरे कवि (bad poet) और भले अथवा अच्छे कवि (good Poet) इस वर्गीकरण को उन्होंने पुनः वर्गीकृत किया है—असत् बुरे कवि (Flase bad Poet) । और सत् बुरे कवि (True bad Poet) ।[1]

असत् बुरे कवि (False bad Poet) से उनका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो किन्हीं भावुक क्षणों में कुछ अभिव्यक्ति कर इस सुखद भ्रम में रहता है कि जो कुछ वह कर रहा है, कविता है । भावुक क्षणों का ज्वार समाप्त होते ही उसका कविता लिखना भी प्रायः स्थगित

---

१ Critiques and essays in Criticism Page 108

T. S. Eliot.

हो जाता है। सच्चा बुरा कवि (True bad Poet) वह है जो भावुक क्षणों के व्यतीत होने पर भी लिखता है, लिखता रहता है—जीवन के अन्त तक, वह अपना जीवन कविता को अर्पण कर देता है। इस प्रकार के व्यक्ति में कुछ प्रतिभा भी होती है।

सच्चे बुरे कवि (True bad Poet) भी दो प्रकार के होते हैं, एक वह जो शब्द जाल के प्रेमी होते हैं। उन्हें ऐसा कुछ नहीं कहना होता जो उनसे पूर्व अकथित हो। पर, वह सोचता है कि—सामान्य बात को ही असाधारण शब्दों में विचित्र छंदों में व्यक्त करना मौलिकता है। दूसरे प्रकार के कवि वे हैं, जो कुछ गम्भीर उद्देश्य लेकर चलते हैं, उनके पास देने को संदेश होता है। इस प्रकार के कवि लम्बी कविता, यहाँ तक कि महाकाव्य भी रच सकते हैं। ये कवि पूर्व परीक्षित शब्द और स्वीकृत तथा परिनिष्ठित छन्दों का प्रयोग करते हैं। इनका मानसिक रुझान-धर्म, दर्शन अथवा राजनीति की ओर होता है। कविता, इन कवियों के लिये, समाज को दिये जाने वाले अपरिहार्य संदेश का माध्यम भर होती है।

कवि के लिये आवश्यक है कि कविता के अतिरिक्त अन्य बातों में भी रुचि ले। अन्य बातों में रुचि इसलिये नहीं कि वह उनसे कविता के मसाला जुटाना चाहे। किसी भी ज्ञान को सिर्फ इसलिये नहीं जानना चाहिये कि उस पर कुछ लिखना ही है। महान् कवि, हमेशा वही हुए हैं, जिनकी रुचियाँ व्यापक रही हैं। इन कवियों की विशेषता यह होती है कि इनका ज्ञान, शिक्षा, मानव और उसके क्रिया व्यापार के सम्बन्ध में इनके अनुभव, इनकी भाव प्रवणता से एकाकार हो जाते हैं। यदि कोई कवि निश्चित उद्देश्य को लेकर चलता है, तो हम चाहे उसके उद्देश्यों से सहमत हों अथवा न हो, पर उस कवि की कविता को भली भाँति समझने के लिये हमें उन उद्देश्यों को समझना अवश्व पड़ेगा।

कवि सामाजिक प्राणी होता है और उसका यह धर्म हो जाता है, कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस संस्कृति को अभिव्यक्त करे जिसमें वह जीता है, जो उसकी अपनी है। जिन विचारों को कवि कविता के माध्यम से व्यक्त करता है, उनके लिये आवश्यक है कि कवि ने स्वयं उन्हें जिया हो, और यह भी कि सामूहिक रूप में जिया हो। भविष्य की आकांक्षाओं को, जिनका वर्तमान में कोई आस्तित्व ही नहीं है, व्यक्त करना कवि का धर्म नहीं है।[1]

इसका यह अर्थ नहीं है कि जिस समाज में कवि रहता है, उसे मान्यता दे। संस्कृति को अभिव्यक्ति देना और सामाजिक स्थिति को मान्यता देना दो भिन्न बाते हैं। ऐसा हो सकता है कि संस्कृति की अभिव्यक्ति कवि को समाज के प्रति विरोधपूर्ण स्थिति में डाल दे। फिर भी श्री इलियट की मान्यतानुसार कवि का यह धर्म है कि वह उस संस्कृति को व्यक्त करे, उसकी आलोचना करे जिसमें वह जीता है, रहता है, जो उसकी है।

The Poet must already have lived them, and lived them Communally For the business of the poet is to express the Culture in which he lives, and to which he belongs not to express aspiration towards one which is not yet incarnate (Page 1o8 Critiques and essays in Criticism)

कवि कर्म और निर्वेयक्तिकता—

श्री इलियट कवि कर्म को साधना मानते हैं—आत्म निषेध की साधना-आत्मोत्सर्ग की साधना। वे कविकर्म को आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं वरन् आत्म से पलायन मानते हैं। उनका यह सिद्धान्त निर्वेयक्तिक अभिव्यक्तिक का सिद्धान्त कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार कविता और कवि दो भिन्न वस्तुएँ हैं। और भावनाएँ तथा दृष्टि जो कविता में प्रतिविम्वित होते हैं वे कवि की भावनाओं और दृष्टि से भिन्न होते हैं। कोई कवि इसलिये महान नहीं हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को कविता में समाहित कर देता है, या इसलिये महान नहीं है कि वह रुचिकर है अथवा उसके पास कहने को बहुत कुछ है। वह इसलिये महान है कि उसके पास एक मस्तिष्क है जिसमें प्रविष्ट होकर विभिन्न अथवा विशिष्ट अनुभूतियां नवीन आयामों में प्रकट होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये अनुभूतियां उसकी स्वयं की हों। श्री इलियट कवि के मस्तिष्क को केवल माध्यम मानते हैं। ऐसा माध्यम, जिसमें अनुभूतियाँ नवीन आकार प्रकार ग्रहण करती हैं। नवीन आकार प्रकार ग्रहण करने की इसमें स्वयं कवि मस्तिष्क अप्रभावित रहता है, पृथक् रहता है। अंशतः इसमें कवि की स्वयं की अनुभूति का योग भी हो सकता है। परन्तु, कलाकार उतना ही पूर्ण कहा जायगा जितना उसमें भोक्ता और स्रष्टा व्यक्तित्व पृथक होगा। यह संभव है कि मनुष्य के लिये जिन प्रभावों और अनुभवों का महत्त्व हो वे कविता की दृष्टि से निरर्थक हों और जो कविता में महत्त्वपूर्ण हों, वस्तुतः मानव जीवन में अल्प महत्त्व के हों। कविता में भावना का उन्मेष नहीं होता वरन् भावना से पलायन होता है। इसमें व्यक्तित्व की अभिव्यत्ति नहीं वरन् व्यक्तित्व से पलायन होता है। कलागत भावना निर्वेयक्तिक होती है।

श्री इलियट ने सृष्टा के मस्तिष्क को उत्प्रेरक (Catalyst) कहा है। यह शब्द विज्ञान का है। ऐसे पदार्थ को उत्प्रेरक कहते हैं जो अन्य दो पदार्थों में होने वाले प्रक्रिया को तीव्र करके, परन्तु स्वयं अपरिवर्तित, अप्रभावित रहे। इसी प्रकार कलाकार का मस्तिष्क होता है। वह संसार से अनुभवों को ग्रहण करता है और पुनः उन्हें नवीन रूप में परिवर्तित कर ससार को सौंप ही देता है। इन नवीन रूप का मूल तो वही है पर इसमें प्रभावात्मकता का गुण अधिक होता है।

कलाकार के मस्तिष्क में क्रिया करने वाले तत्त्व दो हैं।

भाव और अनुभूति

पाठक कला के आस्वादन से जो आनंद प्राप्त करता है वह ऐसा है जो कला के अतिरिक्त अन्य वस्तु द्वारा प्राप्त आनंद से भिन्न है। यह आनंदानुभव एक भाव द्वारा प्रेरित हो सकता है अथवा अनेक भावों का सामूहिक।

कवि का मस्तिष्क ग्राहक है जो असंख्य अनुभूतियों बिम्बों, शब्द समुदायों को अपने में निहित रखता है। वे वहाँ तब तक रक्षित रहते हैं जब तक कि नये तत्व के निर्माण के योग्य सभी उपादान एकत्रित न हो जायें।

यदि किसी महान् कवि की कविता के भिन्न-भिन्न प्रतिनिधि अंशों की तुलना करें तो देखने में आयेगा कि उनमें कितने विभिन्न संयोग है। यह महानता संयोग करने वाले अव-

यवों की अथवा भावनाओं की तीव्रता की महानता नहीं है, वरन्, कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता है। उस दबाव की विशेषता है जिससे भावनाओं में परस्पर एकरूपता लाने वाला संयोग हुआ है। अतएव कवि मस्तिष्क एक माध्यम है, ऐसा माध्यम जिससे प्रभाव और अनुभूतियाँ, विशिष्ट तथा अप्रत्याशित विधि से समन्वित होते हैं।

श्री इलियट की इस मान्यता से उनकी आलोचना भी प्रभावित होती है, वरन् यों कहना चाहिए कि यह उनकी महत्त्वपूर्ण पृष्ठ भूमि है।

कविता में कवि का व्यक्तित्व नहीं होता, वह तटस्थ रहता है, ऐसी स्थिति में यदि आलोचना कवि को अथवा उसके व्यक्तित्व को केन्द्र बनाकर की जायेगी तो वह कथमयि उचित नहीं होगी अतः श्री इलियट निष्पत्ति प्रस्तुत करते हैं कि "वास्तविक आलोचना प्रसंशा कविता की होनी चाहिये, कवि की नहीं।"

काव्य प्रक्रिया को महत्त्व देते हुए इलियट ने कहा है कि अनुभव ही कला नहीं है, कला का रूप ग्रहण करने के लिए अनुभव को एक प्रक्रिया से गुजरना होता है, जितनी तीव्र यह प्रक्रिया होगी कला का रूप उतना ही प्रभावशाली एवं सुन्दर होगा। साथ ही यह भी सच है कि मानव जब तक भोक्ता है, सृष्टा नहीं हो सकता।

कविता के सम्बन्ध में श्री इलियट भावों के साधारणी कारण को भी आवश्यक मानते हैं। काव्य में प्रयुक्त अनुभव जब कला का रूप धारण करते हैं तब वे वैयक्तिकता से मुक्त हो जाते हैं। वैयक्तिकता से मुक्त होकर सामान्य अर्थ धारण कर लेते हैं। अवैयक्तिकता का अर्थ यह है कि कवि केवल आत्माभिव्यक्ति नहीं करता वरन् ऐसे अनुभव को प्रकट करता है जो कवि से भिन्न है।

कवि द्वारा प्रेषित अनुभव पाठक के मस्तिष्क में पुनर्गठित होता है। पुनर्गठन के माध्यम हैं औचित्य पूर्ण वस्तु सम्बन्ध (objective correlative)। वस्तु सम्बन्धों के माध्यम से ही कविता में अनुभूतियाँ प्रकट की जाती है, कोई अनुभूति अथवा कोई भाव कवि मस्तिष्क से पाठक मस्तिष्क तक यों ही नहीं पहुँच सकती। पाठक के मस्तिष्क तक पहुँचने के लिये उन्हें मूर्त्त रूप ग्रहण करना होगा। इन्हें मूर्त्त रूप देने के लिए कवि ऐसे उपादानों की योजना करता है जिससे पाठक के मस्तिष्क में भी वही भाव उठ सकें जो कवि के मस्तिष्क में उठे थे। तो वे सभी वस्तुएँ जिनके माध्यम से अथवा जिनमें संयोजित कर कोई कवि अपनी भावनाओं को मूर्त्त रूप देता है, वस्तु सम्बन्धी (objectvie correlatives) कहलाते हैं। ये भावनाओं के वस्तुगत समतुल्य होते हैं। इलियट के अनुसार भावनाओं को व्यक्त करने का एकमात्र साधन उचित वस्तु समतुल्य ही हैं।

परंपरा और वैयक्तिक प्रज्ञा
(Traditional and individual Talent)

इलियट परम्परा को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। निश्चय ही, परम्परा के अंधानुकरण अथवा अतिभक्तिपूर्ण अनुकरण को वे हानिकर मानते हैं और तब परम्परा का प्रतिषेध होना ही चाहिये। परन्तु, परम्परा का देय इतना ही नहीं है कि हम अपने से पूर्वकाल के कवियों की सफलताओं को देखकर उनके भक्त हो जायें और प्रसंशा करने लगें। इलियट परम्परा को व्यापक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं और तब उसका व्यापक महत्त्व प्रतिपादित करते हैं।

उनके अनुसार परम्परा का बोध ही लेखक को अपने स्थान का और समसामयिकता का तीव्र बोध कराता है। जब वह यह समझ लेता है कि प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक के कवियों की एक श्रृंखला है तब वह परम्परा को समझने के लिये बाध्य होता है।

किसी भी कलाकार का केवल अपने में कोई मूल्यांकन नहीं हो सकता, वह अकेले अपनी अकवित्ता सिद्ध नहीं कर सकता। उसका मूल्यांकन अतीत के कवियों के संदर्भ में ही हो सकता है। इलियट का कथन है कि—

"उसकी महत्ता, उसका विवेचन मृत कवियों एवं कलाकारों के साथ उसके सम्बन्ध का विवेचन है।" किसी भी कवि का मूल्यांकन तुलना के द्वारा हो सकता है। और तुलना के लिये वर्तमान कवि को कवियों के साथ रखना ही पड़ेगा।

पहले से स्थित कृतियों में परस्पर एक आदर्श अनुक्रम श्रृंखला होती है। जब किसी नवीन कलाकृति का सृजन होता है तो पूर्व स्थित आदर्श अनुक्रम में व्याघात उत्पन्न होता है। नवीन कृति के आने से पूर्व वे पहले स्थिति कृतियाँ अपने अनुक्रम में आदर्श थीं, पूर्ण थीं। नवीन कृति इस पूर्णता को अपूर्ण बना देती है और पूर्वस्थित अनुक्रम को (चाहे कितना ही कम या अधिक हो) बदलना पड़ता है। इस प्रकार नवीन कृति उस संपूर्ण श्रृंखला को प्रभावित करती है और तब स्वयं भी उस अनुक्रम में स्थित हो जाती है। प्रत्येक नयी कृति के आविर्भाव के साथ यही प्रक्रिया दोहरायी जाती है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि नवीन कलाकृति का मूल्य पूर्वस्थित कलाकृतियों के संदर्भ में ही आंका जाता है। यही पुराने और नये की परस्पर अनुरूपता है।

श्री इलियट के अनुसार उपर्युक्त तथ्य ऐतिहासिक आलोचना का तो मूल आधार है ही, सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना का भी महत्त्वपूर्ण उपादान है। इस मान्यता से एक और बात स्पष्ट होती है—यह कि जैसे अतीत का क्रम वर्तमान कृति के आने से पुनः निर्देशित होता है, वैसे ही वर्तमान, अतीत से भी निर्देशित होता है। जो कवि इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से अवगत होगा, वह कठिनाइयों और उत्तरदायित्वों के प्रति भी जागरूक होगा।

श्री इलियट, किसी वर्तमान कृति की आलोचना में 'अतीत के संदर्भ में परखना' उचित मानते हैं, परन्तु, इस सम्बन्ध में कुछ भ्रांतियाँ दूर हो जायँ यह आवश्यक है—

(१) अतीत के संदर्भ में परखने का यह अर्थ नहीं है कि पुरानी कृतियों की जो कसौटी थी उसी कसौटी पर वर्तमान कृति को भी परखा जायगा—श्री इलियट का यह अर्थ नहीं है।

(२) इस तरह भी नहीं परखा जायगा कि वर्तमान कवि अतीत की कृतियों से श्रेष्ठ अथवा निकृष्ठ हैं।

(३) मृत आलोचकों के सिद्धान्तों पर भी उस वर्तमान कृति का मूल्याङ्कन नहीं होगा।

केवल प्रतिष्ठित आदर्शों के अनुरूप यदि कोई कृति हुई तो वह नई नहीं होगी—शायद कलाकृति भी नहीं होगी। प्रतिष्ठित आदर्शों की श्री इलियट आलोचना की कसौटी भी नहीं बनाते। अवश्य ही, उनका कथन है कि—

"हाँ, वह ऐसी कसौटी है जिसका क्रमिक रूप से प्रयोग किया जा सकता है, पर यह प्रयोग बहुत सावधानी से करने की आवश्यकता है, क्योंकि हम क्रमिक अनुरूपता के ऐसे पारखी नहीं होते कि कोई त्रुटि न करें।"

कोई भी कवि अतीत को न तो एकदम ढेर की भाँति समग्रता से ग्रहण करता है। न वह एक दो व्यक्तिगत प्रसंशाओं पर मोहित होकर अपने आप को छोड़ सकता है और न अपने आपको किसी पूर्व अधिमान्य युग के अनुरूप बना सकता है।

पहली बात को इलियट अग्राह्य मानते हैं, द्वितीय को वे यौवन-जन्य अनुभव कहते हैं और तृतीय को अत्यन्त वांछनीय और सुखद पूरक मानते हैं। उनका कथन है कि कवि को मुख्य धारा के प्रति सचेत रहना चाहिये। कुछ अच्छी बातों अथवा प्रसंशाओं में पूरी धारा संक्रमित नहीं रहती। उसे यह भी जानना चाहिये कि "काव्य के उपादान सर्वदा एक से नहीं रहते और कि कला का कभी उत्कर्ष नहीं होता।" उपादान परिवर्तित होते रहने से कला का रूप भी परिवर्तित प्रतीत होता है। वर्तमान और अतीत के अन्तर को स्पष्ट करते हुए इलियट कहते हैं—

> "परन्तु, वर्तमान और अतीत में अन्तर यह है कि जागरूक वर्तमान में इस प्रकार और इस हद तक अतीत की चेतना अन्तर्भूत होती है जो अपने सम्बन्ध में अतीत की चेतना में व्यक्त नहीं होती।"

कवि को अतीत की चेतना का विकास अथवा अर्जन करना चाहिये और फिर जीवन भर वह इस अर्जित चेतना का विकास करता रहे।

कलाकार की प्रगति—सतत आत्मसमर्पण की प्रक्रिया है, व्यक्तित्व को तिरोहित करने की साधना क्रिया है।

काव्य भाषा

कविता और अन्य कला में अन्तर होता है, कविता का जो मूल्य उसके अपने देश—अपनी भाषा और अपनी जाति में होता है, अन्यत्र नहीं। स्थानीयता का गुण कविता में अधिक होता है। यह सच है कि संगीत और चित्रकला में स्थानीय तत्त्व होते हैं और यह भी सच है कि कोई संगीत अथवा चित्र कलाकार के देशवासियों को जो संप्रेषण दे सकता है वह किसी अन्य को नहीं। परन्तु, कम से कम कलाकर के देश की संस्कृति की सीमा में एक अच्छा आलोचक कलाकृति के स्तर के सम्बन्ध में उचित धारणा बना सकता है। क्योंकि निर्माण और तकनीकी विशिष्टता के नियम तो समान ही होते हैं। कला के उन सभी रूपों में जिनमें भाषा का उपयोग होता है, कविता ही ऐसी है जो अपनी भाषा से अपृथकनीय है। यहीं से कवि और कविता का सामाजिक व्यापार प्रारम्भ होता है।

किसी भी भाषा के लिये यदि वह रक्षणीय है—यह आवश्यक है कि उसकी अपनी कविता हो। यह कविता केवल उनके लिये नहीं होती जो कविता पढ़ते हों, वरन् समस्त मानव समुदाय के लिये होती है। राष्ट्रीय साहित्य, कविता पढ़ने वालों में ही नहीं, वरन्, उनमें भी जो कवियों के नाम भी नहीं जानते राष्ट्राभिमान जगाता है।

मातृभाषा का साहित्यिक प्रयोग कविता में ही प्राथमिकता प्राप्त करता है। यूरोप की आधुनिक भाषाओं ने कविता में ही प्रयुक्ति पाई थी जबकि लैटिन अभी ज्ञान और गद्य की भाषा थी।

कविता चाहे कितनी भी बुद्धिवादी क्यों न हों, भावना और अनुभूति को व्यक्त करती है और भावना तथा अनुभूति नित्य के जीवन की भाषा में ही संभव है। उसी में ही

सम्भव हैं। उसी में अनुभूति होती है। भाव और अनुभूति विशिष्ट होते हैं, सामान्य नहीं। विदेशी भाषा में विचार करना सहज हो सकता है, अनुभूति करना नहीं। इसीलिये यह सत्य है, इतने कठोर अर्थ में कविता के अतिरिक्त अन्य कोई कला उतनी राष्ट्रीय नहीं हो सकती। दूसरी भाषा में पहुँचकर भी विचार वही रह सकता है, पर अनुभूति दूसरी भाषा में पहुँच कर वही नहीं रह जाती जो मूल भाषा में थी। दूसरी भाषा-विदेशी भाषा, हमारे व्यक्तित्व को पूरक व्यक्तित्वांश प्रदान करती है। अपनी भाषा को छोड़कर अन्य भाषा का प्रयोग व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व से हीन कर देता है। कोई व्यक्ति अन्य भाषा को अतः इसीलिये नहीं अपनाता कि इस प्रकार अन्य भाषा अपना कर वह अपना व्यक्तित्व छोड़कर दूसरा व्यक्ति नहीं बनना चाहता।

अतएव भावना और अनुभूति अपनी भाषा में ही व्यक्त किये जा सकते हैं, उस मातृ-भाषा में जिसका विकास मनुष्य पीढ़ी दर पीढ़ी करता है। इस भाषा की लय, ताल, प्रकृति, ध्वनि, मुहावरे आदि इस जाति के व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं, जिनकी यह भाषा है। यह उस जाति के प्रत्येक वर्ग के, प्रत्येक व्यक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है। कविता, यद्यपि भावना और अनुभूति प्रधान होती, पर उसका बौद्धिक पक्ष भी होता है। इसी प्रकार गद्य में भी निरी वैचारिकता होती हो, ऐसा नहीं है उसमें भावनात्मक गुण भी रहता है।

ऊपर कविता में सामान्य अनुभूति की बात कही गयी है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि कविता में (सामाजिक कर्तव्य पालन हेतु ही) ऐसी अनुभूति ही व्यक्त की जाये जिसे सब समझ सकें। एक स्वस्थ सभ्यता में इतना ही पर्याप्त है कि एक शिक्षित विकसित, परिष्कृत तथा जटिल व्यक्तित्व की अनुभूतियों में भी कुछ ऐसा हो जिसे अपरिष्कृत और अल्पशिक्षित भी ग्रहण कर सकें। परन्तु, कवि का, कविता का मूल्याङ्कन पाठकों की दृष्टि से करना उतना उचित नहीं है जितना भाषा के सन्दर्भ से, जो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा बोली जाती है।[1]

अतएव जैसे मनुष्य या देशवासी होने के नाते सबसे प्रथम कर्तव्य देश के प्रति होता है, वैसे ही कवि होने के नाते उसका प्राथमिक कर्त्तव्य भाषा के प्रति होता है। श्री इलियट ने इसे निम्नलिखित रूप में कहा है—

(१) उसका (कवि का) कर्तव्य है कि भाषा की रक्षा करे।
(२) कवि भाषा का प्रयोग इस प्रकार न करे कि वह हीन, अपरिष्कृत हो जाय।
(३) वह भाषा के विकास के प्रति सजग रहे, उसे समय के अनुकूल एवं पूर्ण बनाने का प्रयत्न करे।

---

१ It is true, I believe, that in a healthy society the really great poet should be understood in part...........But his most general social role will be in relation not to the readers, but to his language as spoken by every one.

(Page 113 Critiques and essays in criticism)

४. भापा की अवतक की अप्रकट संभावनाओं को प्रकट करें।

कवि, मनुष्यों को उनकी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्द प्रस्तुत करता हैं। वह उन्हें, स्वयं के विषय में सिखाता है। कवि साधारण जन की अपेक्षा अधिक जागृत ही नहीं, उनसे भिन्न भी है। अतएव पाठकों को ऐसी अनुभूतियों का अनुभव भी दे सकता है जो उसने कभी न भोगी हों।

श्री इलियट कविता को अत्यन्त वैयक्तिक अनुभूतियों के संप्रेषण तक ही सीमित नहीं मानते, वरन् कवि और कविता को समाज के लिए अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार करते हैं। जहां तक कवि और भाषा का सम्वन्ध है श्री इलियट कवि को भाषा का निर्माता कहते हैं, क्योंकि भाषा सामाजिक ही होती है अतएव कवि का समाज के प्रति महत्‌दायित्व स्वतः हो जाता है।

आलोचना और उसका महत्व

श्री इलियट का कथन है कि "सच्ची समालोचना और संवेदनशील अनुशीलन कवि की ओर नहीं कृति की ओर केन्द्रित होते हैं। अतः वह व्याख्या जिसमें आलोचक अपने आपको संयुक्त कर देता है, आलोचना नहीं है। इस प्रकार की आलोचना नहीं है। इस प्रकार की आलोचना स्वतः स्वयं में रुचिकर हो जाती है पर यह आलोच्य कृति के सम्बन्ध में बहुत कम कहती है। यही दशा प्रभाववादी आलोचना की है। इस प्रकार की आलोचना, एक भावुक और सुसंस्कृत मस्तिष्क पर पड़ा हुआ प्रभाव भर होती है। जैसे एक कैमरा की प्लेट, एक कृति के सामने हो और वह प्लेट उस कृति का सच्चा प्रभाव अंकित करे। पर यह प्रभाव ही केवल कृति का ही नहीं होता, इसमें अन्य स्रोतों से ग्रहण किये हुए प्रभाव भी सम्मिलित हो जाते हैं, जो मस्तिष्क में पहले से ही संग्रहीत रहते हैं। अतः यह आलोचना कृति की व्याख्या की अपेक्षा, आलोचक का कृति के सम्बन्ध में विचार हो जाता है। यह आलोचना स्वयं में एक नयी कृति होती है जो उस आलोच्य कवि द्वारा उपपादित होती है। इलियट आलोचना की आदर्शमूलक विधि को भी उचित नहीं मानते। वह आलोचना जो नीति वाक्यों की तरह की जाती है, पाठक के सामने वस्तुतः कुछ प्रकट नहीं करती।

आलोचक को अच्छे अथवा बुरे का निर्णय नहीं देना चाहिए। उसे केवल व्याख्या कर देनी चाहिए और पाठक स्वयं सही निर्णय कर लेगा।

सच्ची आलोचना का अर्थ है किसी कलाकृति की वैज्ञानिक ढंग से यथार्थ परख। जैसी वह वस्तुतः है। श्री इलियट के अनुसार आलोचना, बुद्धि का तटस्थ व्यायाम है।[1] आलोचक का ध्यान समग्ररूप में आलोच्य कृति पर केन्द्रित हो, वह उसकी तह में जाये और उसमें अन्तर्भुक्त उस नियम को ढूंढ निकाले जो उस कृति के मूल में है। अन्य प्रकार की आलोचनाएँ, आलोचक की उस वृत्ति की तृप्ति हेतु होती हैं जिसे वह अन्य किसी साधन से तृप्त नहीं कर पाया है। वे स्वयं ही नवीन कृति बन जाती हैं। इसलिये कभी-कभी कलाकार पर ही आलोचना के लिए निर्भर होना पड़ता है। क्योंकि उसकी आलोचना में कम से कम सृजनशील पर दमित आकांक्षा का उद्‌गार नहीं होगा।

1 "The disinterested exercise of intelligence".

(क्योंकि वह स्वयं सृजन कर सकता है, करता है।) इलियट सृजनशील व्यक्ति को बहुत अभ्यदस्त मानते हैं। अभ्यस्त, भावनाओं को संभावित करने में, अभ्यस्त, परिस्थितियों को संयुक्त करने में। अतएव ऐसे व्यक्ति द्वारा की हुई आलोचना कभी-कभी उत्कृष्ट कोटि की आलोचना होती है। कुछ सृजनशील लेखक इसीलिये श्रेष्ठ होते हैं कि उनकी आलोचक वृत्ति श्रेष्ठ होती है।

श्री इलियट का आदर्श आलोचक अरस्तू है। जिसकी स्वयं की कोई व्यक्तिगत आकांक्षा नहीं है जिसे वह तुष्ट करे। वह एकाग्रतापूर्वक आलोच्य कृति की ओर दृष्टि केन्द्रित रखता है। अरस्तू के पास वैज्ञानिक का मस्तिष्क था जो कि परख—जांच में ही लगा रहता है। हर बात जो अरस्तू कहता था साहित्य को प्रकाशित करता है।

उपर्युक्त विवेचन में श्री इलियट के मूलतः उन विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जो उनकी आलोचना सम्बन्धी मान्यताओं को प्रकट करते हैं। कविता क्या है? कविता की सृजन प्रक्रिया क्या है? कवि कविता और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध तथा इलियट आलोचना से क्या अपेक्षा करते हैं—इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश उनके विचारों से पड़ जाता है।

५ | नीति, काव्य और रस

डा० देवीशरण रस्तोगी एम० ए०, पी-एच० डी०

काव्य-सृजन की प्रक्रिया के तीन अंग हैं—कवि का कर्तृत्व, काव्य का वर्ण्य-विषय और काव्य का प्रभाव-परिणाम। काव्य और नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध पर इन्हीं तीन दिशाओं से विचार किया जा सकता है।

कवि का कर्तृत्व और नैतिकता—कवि काव्य का कर्त्ता होता है और उसका यह कर्तृत्व वाक्य को रसात्मक बनाने में प्रकट होता है। वाक्य में रस का आधान एक ओर तो वह विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से और दूसरी ओर छंद, अलंकार, शब्द-शक्ति तथा गुण के आधार पर करता है। सहृदय को विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से भावगत-तुष्टि (Emotive Pleasantness) और छंद, अलंकार, शब्द-शक्ति तथा गुण आदि के सार्थक प्रयोग से कलागत रमणीयता (Linguistic Embellishment) का आनन्द प्राप्त होता है। वास्तव में इन दोनों के योग से ही वह मनःस्थिति उत्पन्न हो पाती है जिसे "हृदय की रसावस्था" कहा जाता है। इस स्थिति में सहृदय दृष्टा भी होता है और भोक्ता भी। क्योंकि उसे इद (Id) के माध्यम से ही इस स्थिति तक पहुंचने का अवसर प्राप्त होता है, इसलिए वह "भोक्ता" बना रहता है और क्योंकि भावगत-तुष्टि तथा भाषागत-रमणीयता उसे इस प्रकार अभिभूत कर पाती है कि उसकी चित्तवृतियां आत्मानन्द में लीन हो जाएँ, इसलिए वह दृष्टा भी बन जाता है।

कवि, इतना सब कुछ, कर पाता है केवल अपनी कवित्व-शक्ति के बल पर। यह कवित्व-शक्ति अपने में अन्ततः क्या है? उसके भी किसी प्रकार के अंतर्संगठन पर विचार किया जा सकता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विभिन्न आचार्यों (दंडी, रुद्रट, वामन, अभिनव गुप्त राजशेखर तथा मम्मट आदि) ने विभिन्न दिशाओं से बिचार किया है पर प्रत्येक बार अन्त में किसी न किसी एक शक्ति (Energy) पर अटक कर रह जाने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं सूझ पाया है। जहां तक प्रश्न है आधुनिक मनोविज्ञान का, वह इतना तो बता पाता है कि यह कवित्व-शक्ति किन क्षणों में जाग्रत हो उठती है अथवा कोई व्यक्ति-विशेष ही काव्य-रचना के प्रति विशेष रूचि क्यों दिखाता है अथवा काव्य-सृजन में ही कोई व्यक्ति क्यों प्रवृत्त होता है—पर इससे आगे (कवित्व-शक्ति के किसी प्रकार के अंतर्संगठन की ओर संकेत करने के सम्बन्ध में वह भी मौन धारण कर लेता है। फ्रायड, जो यह तक मानते थे कि कलाकार के व्यक्तित्व का उसकी कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं होता है वरन् वह तो उसके तृषित, दमित, वर्जित, संतप्त तथा असंतुष्ट व्यक्तित्व-भाव की मुखर आत्म-स्वीकृति होती है, ने भी

कवि की कवित्व-शक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व-को अलग से स्वीकार किया है। सी० जी० युंग ने फ्रायड की मान्यता के इस भाग से भी असहमति प्रकट की है कि कवि के असंतुष्ट, दमित, तृषित तथा रुष्ट व्यक्तित्व-भाग और काव्य-कृति अथवा काव्य-सृजन अथवा काव्य-सृजन की प्रक्रिया के अचेतन भाग का कोई सीधा सम्बन्ध होता भी है।

तो क्या ऐसी स्थिति में [कवित्व-शक्ति अपने में शक्ति (Energy) स्वरूपा होती है और उसके किसी प्रकार के अंतर्संगठन की चर्चा चलाना अपने में एकदम उपहासास्पद है] कवि के कर्तृत्व और नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना वास्तव ही में असम्भव है? कदापि नहीं। कवि का कर्तृत्व कवित्व-शक्ति पर आकर ही समाप्त नहीं हो जाता है कहना तो यह अधिक उपयुक्त होगा कि वह अपने आपको प्रकट ही इससे आगे और एक अन्य रूप में करता है। यह रूप आस्था का रूप है। साहित्यकार की आस्था जीवन की उस प्रतीति का परिणाम होती है जिसका अनुभव वह दैनिक जीवन में पग पग पर करता चलता है और निस्संदेह जो उसके अंतर्मन का अविभाज्य अंग बन जाया करती है। काव्य (जो अंतर्मन का उल्लास होता है) के सृजन के क्षणों में जीवन की इस प्रतीत का, आस्था का, सक्रिय हो उठना स्वभाविक ही है। कहना तो यह भी अत्युक्ति न होगा कि इसके अभाव में किसी भी प्रकार के काव्य का रचा जाना एकदम असम्भव है। (यहाँ पर किन्तु यह भी न भुला देना चाहिए कि जो आस्था स्वप्न-चित्र (Phantasy) की सप्रयोजनता के स्तर की बनकर अंतर्मन के अविभाज्य अंग के रूप में काव्य-कृति को प्रभावित करने के स्थान पर स्थूल प्रयोजन-मूलकता पर अटक कर रह जाती है, वह कृति को "बौद्धिक प्रत्यय विशेष के रागात्मक समर्थन से अधिक कुछ और नहीं प्रतीत होने देती है। अब प्रश्न रह जाता है आस्था के अपने अंतर्संगठन में नैतिक अथवा अनैतिक होने का। उसके नैतिक होने के सम्बन्ध में प्रायः तीन प्रकार की युक्तियां प्रस्तुत की जातीं हैं—कवि यथार्थ से कहीं अधिक मूल्यवान सृष्टि प्रस्तुत करता है और इसलिए अपनी इस महानता के कारण काव्य-सृजन का कर्म अपने में ही एक नैतिक उच्च कोटि का कृत्य है; अपने और अपने परिवेश के बीच सम्बन्ध-स्थापन की प्रतीति ही जीवन है और इस सम्बन्ध स्थापन की पूर्ण प्रतीति से पूर्व की सिहरन की 'नीति' है; और किसी नैतिक ध्येय के कारण और कतिपय नैतिक मूल्यों के आधार पर ही कवि अपने में पूर्ण एवं स्वायत सृष्टि उत्पन्न कर पाता हैं। पहली युक्ति काव्य-सृजन की प्रक्रिया को "नैतिक" मानकर चलती है। और इसलिए नैतिकता तथा काव्य के किसी पारस्परिक मूल सम्बन्ध की ओर रंचमात्र भी संकेत नहीं कर पाती है, दूसरी युक्ति जीवन के प्रत्येक मूल्य की सद्यः प्रतीति को ही 'नीति' मानकर चलती है जो अपने में "तर्क" कम और 'घोषणा' अधिक है, और तीसरी युक्ति काव्य तथा नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध के वास्तविक स्वरूप की ओर संकेत करने के स्थान पर उस (सम्बन्ध) की प्रशस्ति बनकर रह जाती है। इस प्रकार इन तीनों युक्तियों के आधार पर आस्था के नैतिक होने की प्रतीति हो पाना असम्भव है। वास्तव में मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में आज जितना भी ज्ञान उपलब्ध है उसके आधार पर यह कह पाना कि आस्था होती ही अपने में नैतिक है, तर्कसंगत कम और घोषणा पूर्ण अधिक प्रतीत होता है।

अधिकाधिक यह कहा जा सकता है कि कवि की आस्था के मूल में जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार के मूल्य (values) सक्रिय रहते हैं और क्योंकि 'सभी' में नैतिक मूल्य भी आ जाते हैं इसलिए यह माना जा सकता है कि नैतिक मूल्यों और काव्य-सृजन का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

काव्य का वर्ण्यविषय और नैतिकता—नीति भी काव्य का एक स्वतंत्र वर्ण्य-विषय बन सकती है। इसके पक्ष में जितने भी तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं वे अपने में साहित्यिक कम और नैतिक अधिक होते हैं और इसलिए उनके आधार पर इस सम्बन्ध में किसी एक निष्कर्ष पर पहुंच पाना असम्भव है। विपक्ष में जितने प्रकार के तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं उनका मूलाधार एक ही होता है नैतिक-नियम व्यक्ति को अरुचिकर ही नहीं वरन् भार स्वरूप प्रतीत हुआ करते हैं और सभ्यता और संस्कृति के नाम पर, लोकनिन्दा के भय से, वह जैसे-तैसे उनका पालन मात्र करने का उपक्रम करता है। यह तर्क और अधिक भयंकर (अर्थात् एकांगी) रूप उस समय धारण करता है जब यह कहा जाने लगता है कि नैतिकता के इन नियमों के (जो किशोरावस्था में हृदय के किसी सुदूरवर्ती कोने में बहुत बुरी तरह घर कर लेने के कारण एक ऐसी अवांछनीय आंतरिक आवश्यकता बन जाया करते हैं जिससे आगे चलकर, पीछा छुड़ा पाना कठिन हो जाता है, जिसका निर्वाह न कर पाना व्यक्ति को स्वयं अपनी नजरों से गिरा देता है, उसके जीवन के रस को कुठिंत कर देता है) बंधन से मुक्त होने का अवसर और सुविधा प्रदान करना ही सच्ची नैतिकता ? है। वास्तव में जब यूरोप में पहली बार प्रकृति और पशु-पक्षियों के जीवन के अध्ययन के आधार पर विकासवाद की स्थापना हुई और डार्विन के "उपयुक्ततम की अवस्थिति" (Survival of the Fittest) का एकदम एकांगी और मूल स्थापना के सर्वथा प्रतिकूल पड़ने वाला एक नवीन रूप ग्रहण किया गया तो एक ऐसी विचारधारा ने जन्म लिया जो आज भी सम्पूर्ण मानव-जाति के चिंतन और व्यवहार को किसी-किसी रूप में प्रभावित किए हुए है। पिछड़ी हुई, एकाकी जीवन व्यतीत करने वाली तथा अविकसित प्रदेशों में बसी हुई जातियों की जीवन-प्रणाली के दूसरे पक्ष की सर्वथा अवज्ञा करके, सभ्य और सुसंस्कृत जातियों के मनो-रंजनार्थ, उनके सम्बन्ध में एकदम एकांगी और भ्रांतिमूलक तथ्य प्रस्तुत किये गये। अठारहवीं शताब्दी में इस विचारधारा की प्रतिक्रिया में आदिम बनवासियों के, सर्वथा एक दूसरे प्रकार के ही, आदर्शात्मक और मनमोहक चित्र प्रस्तुत किये गये। यह सिद्ध किया गया कि आज के नगरवासियों का सम्पूर्ण जीवन, सभ्यता और संस्कृति के नाम पर प्रचलित एक ऐसा मानसिक बोझ उठाना सीखने में व्यतीत हो जाता है जो उसके लिय न तो कभी उपयोगी सिद्ध हुआ है और न ही (कोई ऐसी सम्भावना दीख पड़ती है कि) आगे चलकर कभी उपयोगी सिद्ध हो सकेगा, और जंगलों में बसने वाली अविकसित तथा अर्द्धविकसित जातियाँ सहज, सरल तथा ऋजु जीवन व्यतीत कर पाने के कारण जीवन के रस का उन्मुक्त उपभोग कर रही हैं। जीवन के रस के इसी उन्मुक्त उपभोग को लेकर दार्शनिकों ने सभ्यता और संस्कृति की खिल्ली उड़ाई, मनोवैज्ञानिकों ने उसकी (सभ्यता और संस्कृति की) बखिया उधेड़ी, कवियों ने जीवन-रस के इस उन्मुक्त उपभोग को अमरत्व प्रदान करने के लिए

उसके गीत गाये-उस पर कहानियां लिखी गई, बड़े-बड़े तथाकथित प्राग्एतिहासिक उपन्यास प्रस्तुत किए गये। विभिन्न प्रकार की "नीतियों" की कल्पना की गई, उन "नीतियों" का विभिन्न प्रकार की मानसिक विकृतियों से सम्बन्ध जोड़ा गया, और इस प्रकार सभ्यता संस्कृति विरहित" ही "सहज जीवन" बन गया।

डार्विन ने मानव स्वभाव से दूसरे पक्ष की ओर भी संकेत किया था किन्तु उसे एकदम भुला दिया गया। डार्विन के अनुसार ही मनुष्य में अहंवादी के साथ ही साथ सामाजिक प्रवृत्तियां भी सक्रिय पाई जाती हैं और यह सामाजिक प्रवृत्तियां, शक्ति और वेग में, सहज प्रवृत्तियों के स्तर की ही होती हैं। यह हो सकता है कि किसी कारणवश अहंवादी प्रवृत्तियों के अत्यधिक उत्तेजित हो जाने के कारण व्यक्ति सामाजिक प्रवृत्तियों की उपेक्षा कर जाए पर "कारण" के निराकरण अथवा "उत्तेजना" के शिथिल होने पर उसे जिस भीषण आंतरिक दर्शन का सामना करना पड़ता है, वह भी किसी से छिपा नहीं है। समाजिक प्रवृत्तियां ही अपने आदितम रूप में पारस्परिक सौहार्द्र के रूप में अधिक विकसित हो जाने पर न्यायप्रियता के रूप में, और, विकास की वर्तमान अवस्था में नैतिकता के रूप में मनुष्य को प्रभावित-परिचालित करती रही हैं।

तो क्या व्यक्ति, वास्तव में ही, स्वभाव से नैतिक है? क्या अनेक पशु-पक्षियों की भांति 'नैतिक आवश्यकता' एक अंध शक्ति के रूप में उसे स्वतः ही आचरण विशेष को अपनाने के लिये बाध्य कर पाती है? क्या आचार-विशेष अपनाते समय व्यक्ति को किसी प्रकार का "नैतिक निर्णय' लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती है? यदि ऐसा होता तो न तो नीतिशास्त्रियों को नैतिकता का प्रकृताधार खोज निकालने के लिए इस प्रकार व्यग्र और व्यस्त रहना पड़ता, न दार्शनिकों को मानव-स्वभाव के मूल रूप से परिचित हो पाने की चिंता करनी पड़ती, और, न ही कवियों को व्यक्ति को एक आचरण विशेष अपना पाने की स्थिति में लाने के लिए "अलग से" प्रयत्न करना पड़ता। वास्तव में मनुष्य में अहंवादी और सामाजिक-दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां स्थिति पाई जाती हैं और क्योंकि समाज का विधान कुछ इस प्रकार का रहा है कि उसकी अहंवादी प्रवृत्तियों ने विकृत रूप धारण कर लिया है, इसलिए सामाजिक प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की लालसा से अभिभूत होते हुए भी वह उन्हें आसानी से उचित मान्यता नहीं प्रदान कर पाता है और क्योंकि वह अपने को इस स्थिति में भी नहीं पाता है कि इस "लालसा" का निराकरण कर सके, इसलिए उसे प्रत्येक बार 'नैतिक निर्णय' लेने की आवश्यकता पड़ती है। सच तो यह है कि नैतिक-निर्णय के कारण ही नैतिकता उसे 'नैतिकता' प्रतीत हो पाती है। नैतिक-निर्णय का "नैतिक" अंश उसके समष्टि भाव को और "निर्णय" अंश उसके व्यष्टि भाव को (उसके सर्वोत्तम रूप में-आत्म-गौरव तृप्त) अभिव्यक्ति प्राप्त करने का अवसर प्रदान कर पाता है। ऐसी स्थिति में उसे नैतिक निर्णय का आकर्षक प्रतीत होने लगना स्वभाविक ही है।

नीति के आंतरिक और बाह्य स्वरूप--दोनों स्वरूपों का विश्लेषण तो स्पष्टतः यह सिद्ध कर देता है कि नीति भी प्रेम मार्ग की भांति ही अपने में अंततः एक मनोवृत्ति

(Sentiment) ही है, बौद्धिक प्रत्यय मात्र नहीं है पहले आंतरिक स्वरूप को लीजिए। मनुष्य के नीतिबोध के अंतर्संगठन का विधान अत्यधिक जटिल है। उसके मूल में नीति के प्रकृताधार समष्टि भाव के अतिरिक्त अन्य कई मनोवृत्तियां (Sentiments), जीवनवेग (Impulses) तथा मानसिक ग्रंथियां (Complexes) सक्रिय पाई जाती हैं। उनमें से प्रमुख प्रमुख है—अति-अहं का सतत नियन्त्रण (फ्रायड), आत्मगौरव का विकास (मेक्डूगल), 'स्व का कल्पित रूप' (एडलर),' पूर्णता की चाह (हैडफील्ड) और आत्मनिषेध-आत्मपीड़न अकारण भय (जे०सी० फ्लूगल)। यह सभी प्रवृत्तियां मानव-मन में इतनी दूर तक स्थित पाई जाती हैं कि उनका पूर्ण के साथ सक्रिय हो उठना व्यक्ति एक ऐसी मनोवेगात्मक (Emotive) शक्ति उत्पन्न कर देता है कि उसका प्रत्येक निर्णय 'इच्छा' बन कर और प्रत्येक इच्छा 'वासना' बन कर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व छा जाती है। इस मनोवेगात्मक शक्ति को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली कृति उसे रागोत्प्रेरक प्रतीत हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

बाह्य नीति को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—व्यक्तिक नीति, सामाजिक नीति और लोकोत्तर नीति (Transcedental Morality)। व्यक्तिक नीति जिन गुणों को स्वीकार करके चलती है वे अपने मूल रूप में समष्टि-सम्मत तो होते ही हैं पर इसके साथ ही साथ उनमें से कई प्रमुख गुण ममत्व और ममत्व जैसी ही अन्य कई सहज प्रवृत्तियों पर भी आधारित होते हैं और इसलिए उनका प्रतिपादन (वर्णन मात्र अथवा प्रशस्ति मात्र नहीं) व्यक्ति को रसोद्रेक के स्तर का आनन्द न प्रदान कर सके, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? समाजिक नीति सामान्य धर्म-वर्णाश्रम-धर्म-ऋणत्रय शोध को स्वीकार करके चली है और इसलिए वह व्यक्ति के समष्टि भाव को अभिव्यक्ति प्राप्त करने का अवसर कितनी दूर तक प्रदान करती है, यह किसी से छिपा नहीं है। जहाँ तक प्रश्न है लोकोत्तर नीति का, यह ठीक है कि मोक्ष की धारणा, वैशेषिकों से लेकर भक्त-आचार्यों तक प्रतिपादित अपने सभी रूपों में, लोक की स्थिति को एकदम अस्वीकार न करते हुए भी लोकेत्तर अवश्य ही प्रतीत होती है पर इसी बात को लेकर विभिन्न पश्चिमी विचारकों ने समग्र हिन्दू नीति पर जो भांति भांति के आरोप लगाए हैं, वे तर्कसंगत नहीं प्रतीत होते। इन तर्कों का दार्शनिक युक्तियों के आधार पर उत्तर देना अथवा उनके औचित्य अनौचित्य पर विचार करना हमारे विषय की परिधि में नहीं आता है। फिर भी, इतना हम अवश्य ही कहना चाहेंगे कि हिन्दू-दृष्टिकोण नीति-निरपेक्ष नहीं है, वह नीति के परमपद, काव्य के क्षेत्र में जिसे हृदय की प्रकृतावस्था कहा जाता है, स्वीकार करके चला है, उसमे व्यष्टि भाव को भी स्वीकृति मिली है (क्योंकि इसकी स्वीकृति का मोक्ष की धारणा से बढ़ कर उच्चतम प्रमाण और कौन-सा हो सकता है) और समष्टि भाव को भी (जो वर्णाश्रम धर्म सामान्य धर्म तथा ऋणत्रय शोध की स्वीकृति में प्रकट होता है)।

काव्य का प्रभाव-परिणाम और नैतिकता—भारतीय साहित्य में 'प्रयोजनों' के अंतर्गत काव्य के प्रभाव-परिणाम पर जितनी अधिक सूक्ष्मता और विस्तार के साथ विचार

किया गया है वह विश्व साहित्य में निःसन्देह अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। उसके आधार पर कम से कम इतना तो निश्चिततापूर्वक कहा जा सकता है कि काव्य नैतिक मूल्यों को प्रत्यक्षतः प्रभावित तो करता है पर उसका उद्देश्य अंतश्चमत्कार ही है। अब देखना यह है कि अंतश्चमत्कार की यह अवस्था नैतिकता से किस रूप में और कहाँ तक सम्बन्धित है।

काव्य के प्रभाव-परिणाम को दो स्तरों में बांटा जा सकता है। पहला स्तर हृदय के उसकी प्रकृतावस्था में आ जाने में प्रकट होता है। हृदय की प्रकृतावस्था से हमारा तात्पर्य पाठक के उस मनःस्थिति में आ जाने से है जिसमें वह अपनी स्वभावगत विचित्रताओं और सीमाओं के ऊपर उठ जाता है, उसका व्यक्तित्व जो पहले विभिन्न खंडों में बंटा हुआ था जुड़ कर अपने में एक अखंड इकाई बन जाता है, उसका "ध्यान" जो पहले विभिन्न क्षुद्रताओं में अटका हुआ था पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है, और, इस प्रकार वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य के साथ सच्चे अर्थों में 'व्यक्ति' हो जाता है। यही वह मानसिक स्थिति है जिसे 'अंतश्चमत्कारावस्था' कहा जाता है और यही वह स्थिति है जिसमें आ पाने की आवश्यकता किसी प्रकार के नैतिक आचरण को सच्चे अर्थों में स्वीकार करने के क्षणों में पड़ा करती है। इस स्थिति में व्यक्ति जो कुछ स्वीकार करता है, वह उसके पूर्ण व्यक्तित्व की स्वीकृति होने के कारण, एक ऐसी आंतरिक आवश्यकता बन कर उसके तन-मन पर छा जाता है जो भविष्य में उसके आचरण को बराबर गति और दिशा-दोनों प्रदान करता है। संसार में जो इतनी अधिक अनैतिकता प्रचलित है उसका मूल कारण आदर्शों या उचित आदर्श की अनुपस्थिति कम और जिन क्षणों में व्यक्ति इन आदर्शों या आदर्श को स्वीकार करता है उनमें उसके व्यक्तित्व का अपने समग्र रूप में अथवा प्रकृत रूप में सजग न हो पाना, अधिक है। प्रायः होता यह कि कभी तो किसी मानसिक आवेग की झोंक में आकर और कभी किसी अन्य प्रवृति से अनावश्यक रूप में अभिभूत हो जाने के कारण, जाने-अनजाने; आदर्श-विशेष को अपनाने का उपक्रम मात्र किया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप ही जब वह मनःस्थिति लुप्त होने लगती है तो वही आदर्श जिसके प्रति अत्यधिक ललक दिखायी गई थी या तो स्वयं ही नजरों से गिर जाता है या फिर भार बनकर चेतना को व्यर्थ में ही कष्ट दिया करता है (आंतरिक दशंन का कारण बन कर)।

काव्य के प्रभाव का दूसरा रूप प्रकट होता है अनजाने में ही अपने आप को प्रबल आकर्षण संभूत आदर्श के सम्मुख खड़ा पाने में। वास्तव में कवि यथार्थ रूप का ज्ञानी होने के साथ साथ जीवन के आदर्श रूप के विए स्वप्नदृष्टा भी होता है। एक प्रकार से उसकी कृति को आदर्श के इस स्वप्न की शब्दबद्ध अभिव्यक्ति भी कहा जा सकता है। कहना तो यह भी अत्युक्ति न होगा कि इस स्वप्न को चित्रित करने की अदम्य लालसा से उत्प्रेरित होकर ही कवि(अपनी सृजनात्मक शक्ति के सहारे) एक विशिष्ट प्रकार की कृति को जन्म दे पाता है। कवि में क्यों कि एक गुण यह भी पाया जाता है कि (काव्य के) विभिन्न उपकरणों की सहायता से वह अपने स्वप्न को सभी का स्वप्न बना देता है, इसलिए सहृदय के किसी उचित स्वप्न (जो उसके व्यक्तित्व को अधिकाधिक अंशों में सामंजस्यपूर्ण

स्थिति में ला सके) के सम्पर्क में आते ही उस तक पहुंच पाने के लिये आतुर हो उठना स्वाभाविक ही है । क्या इस स्थिति को अंतश्चमत्कारावस्था नहीं माना जा सकता है ? इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन केवल इतना ही है कि अंतश्चमत्कारावस्था उत्पन्न ही इस स्थिति में हो पाती है। हृदय की जिस प्रकृतावस्था को अंतश्चमत्कारावस्था कहा जाता है, उसी की पूर्वपीठिका बनकर यह स्थिति उपस्थित होती है। किंतु हमारा तात्पर्य कवि को अनिवार्यतः उपदेशक के रूप में ग्रहण किये जाने का समर्थन करना नहीं है (स्थूल उपदेशात्मकता तो होती ही मानसिक अस्वस्थता के क्षणों की देन है) वरन् केवल मात्र इस तथ्य की ओर संकेत भर करना है कि काव्य-सृजन के क्षणों में, कवि के अंतर्मन में, जीवन का कोई न कोई संभावित रूप अवश्य ही सजग रहता है (यह हो सकता है कि जीवन के सम्भावित रूप की यह "सजगता" अपने में अचेतनावस्था में ही हो) और अपनी रचना को एक विशिष्ट रूप प्रदान करते सयय वह जीवन के इस सम्भावित रूप से अवश्य ही प्रभावित और परिचालित (अचेतन रूप में ही सही) होता है।

६

रस का स्वरूप

डॉ० भागीरथ मिश्र

उपनिषद् की मान्यता है : "रसो वै सः"—परमात्मा निश्चित रूप से रसरूप है। जीवन में भी रसत्व और नीरसत्व की हम बराबर चर्चा करते हैं और उससे कुछ न कुछ अर्थग्रहण भी करते हैं। काव्य में रस के विश्लेषण और निरूपण की चर्चा होती ही है और नाटक को तो रसानुभूति के लिये ही हम देखते हैं। अतः रस हमारे बीच अनेक रूपों में व्याप्त है, उपलब्ध है और हमारे द्वारा अनुभूत भी होता है। संभवतः यह भी कहा जा सकता है कि जल के सामने वह उपलभ्य है। इतना परिचित होते हुए भी जब हम यह अपने से पूछते हैं कि वास्तव में रस है क्या ? तब एक विचित्र कठिनाई का अनुभव हम करते हैं। रस आनन्द है। रस आनन्द को प्रदान करने वाला तत्व है, उसकी सामग्री है। रस आत्मानुभूति है। रस काव्य या नाटक से प्राप्त आनन्द है। 'रस भग्नावरण चित्त का आस्वाद है, आदि-आदि बातें हमारे सामने प्रस्तुत होती हैं पर इनसे हमारे मन को सन्तोष नहीं होता। बहुत अधिक शास्त्रीय दृष्टि से न सोचकर हम इस बात पर थोड़ा खुले मन और खुली दृष्टि से विचार करेंगे, तो अधिक अच्छा रहेगा।

वामन ने गुणों को काव्य की शोभा करने वाले धर्म के रूप में देखा है और अलंकारों को उस शोभा को बढ़ाने वाले धर्म के रूप में (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणः तदतिशय-हेतवस्त्वलन्काराः। गुणों की परिभाषा के प्रसंग में उन्हें चित्त को प्रभावित करने वाली विशेषताओं के रूप में ग्रहण किया गया है। इस प्रकार गुणों को परवर्ती आचार्यों ने रस के उपकारक धर्म के रूप में स्वीकार किया है। इसी सूत्र या संकेत को आगे बढ़ाते हुए हम विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि गुणों की चित्त को प्रभावित करने वाली विशेषता ही रसत्व का मूलाधार या मूल स्रोत है। अर्थात् रस का मुख्य कार्य या मूलतत्व चित्त को प्रभावित करना है और इस दृष्टि से हम कह सकते हैं : चित्त की तटस्थ किन्तु मुक्त आनुभूतिक क्रियाशीलता में तत्परता ही रस है, चित्त प्रभावित होकर क्रियाशील होता है, परन्तु साधारण या सामान्य लोकानुभावों में ऐसा होता है, जो रसत्व नहीं हैं, क्योंकि उसका सुख दुःखात्मक परिणाम हमारे जीवन पर पड़ता है, और हम उस अनुभव में मुक्त नहीं हैं, क्योंकि उसके परिणामों की चिन्ता हमारे मन पर लदी रहती है। अतः वह अनुभूति निर्विघ्न या मुक्त नहीं उसमें हम तटस्थ रह ही नहीं सकते, क्योंकि उसका हमारे जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है। अतः काव्य या नाटक में नियोजित जीवन के स्वरूप अर्थात् काल्पनिक बिम्ब-विधानों या दृश्यों से ही वह निर्विघ्नता या तटस्थता प्राप्त होती है। इसी से नाटक देखने या काव्य पढ़ने से रसानुभूति होती है, ऐसा माना गया है। यहीं पर एक यह बात भी स्पष्ट करना

आवश्यक है कि चित्त की यह क्रियाशीलता आनुभूतिक है, संवेदनात्मक है, एन्द्रिक है, बौद्धिक नहीं। वह उसकी वैचारिक क्रियाशीलता से भिन्न है। अतः हमरस को चित्त की तटस्थ किन्तु मुक्त आनुभूतिक क्रिया के रूप में देखते हैं।

इस आनुभूतिक क्रियाशीलता को स्पष्ट करने के लिये हमें उसके चार पक्षों को स्पष्ट करना होगा जिनमें चित्त क्रियाशील होता है। ये चार पक्ष हैं—चित्त का विस्तार, चित्त का संकोच, चित्त की दीप्ति और चित्त की द्रुति या द्रवणशीलता। इन्हीं चारों पक्षों या चित्त की क्रियाशीलता की अवस्थाओं से ही रस का सम्बन्ध है। चित्त विस्तार, वह अवस्था है जिसमें किन्हीं दृश्यों या विम्बों को ग्रहण कर चित्त फैलता है, प्रसन्न होता है, व्याप्त होता है। इसे हम प्रमुखतया उसके प्रसाद गुणस्थ आधार या तत्व को प्रकट होते देखते हैं। चित्त की विस्तारक आनुभूतिक क्रियाशीलता का सम्बन्ध वीर, हास्य और रौद्र रसों से है। इन रसों में चित्त विकसित होता है। वह अन्तर्मुख न रहकर वहिर्मुख होकर अपने को प्रकट करता है। यह चित्त की एक स्थिति हुई।

चित्त की दूसरी स्थिति उसके संकोच की है। इस अवस्था में चित्त अपनी मूल स्थिति की अपेक्षा संकुचित हो जाता है। ऐसे दृश्यों और बिम्बों को देखने पर जो चित्त को प्रसन्न न करके विषण्ण करते हैं, चित्त उनसे पलायन और दूर रहना चाहता है। ऐसी स्थिति में उसका संकोच होता है। यह स्थिति भी उसकी एक प्रकार की क्रियाशीलता है जो वीभत्स भयानक और शांत रसों में देखी जा सकती है। वीभत्स के अवांच्छनीय एवं घृणाजनक दृष्यों को देखकर चित्त के अन्तर्गत उनमें रमने की वृत्ति जागृत न होकर उनसे दूर होने और अपने को समेट लेने की स्थिति आती है, अतः इस स्थिति की क्रियाशीलता में जो अनुभूति है, वह इन रसों के रूप में प्रकट होती है। यहीं पर कुछ लोगों के मन में यह शंका हो सकतो है कि वीभत्स और भयानक में चित्त का संकोच हो सकता है, पर क्या शांत भी ऐसा होता है। इस घृणा में और भय में तो आत्मरक्षा का है। वह अवांच्छनीय ही नहीं घातक या हानिकारक है जिससे बचने के लिये हम प्रयत्न करते है। अतः चेतना संकुचित होती है। पर क्या निर्वेद में भी संकोच होता है यह प्रश्न है। वास्तव में "निर्वेद" में संकोच, स्वाभाविक स्थिति से कम होने की क्रिया में नहीं, वरन् विस्तृत स्थिति से कम होने या वास्तविक स्थिति में आने को क्रिया में देखा जाता है। इस प्रकार से संकोच का कार्य इससे भी सम्पन्न होता ही है। निर्वेद की उत्कृष्ट स्थिति योग में देखी जाती है। जिसकी परिभाषा महर्षि पातंजलि ने "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" के रूप में की है। अतः यह निरोध भी एक प्रकार का संकोच ही हुआ।

जिस प्रकार वीभत्स, भयानक और शांत चित्त के संकोच की क्रिया से सम्बन्ध देखने वाले रस हैं।

चित्त की क्रियाशीलता की तीसरी स्थिति द्रुत है। इस अवस्था में वह द्रवित होता है। द्रवित अवस्था के रस करुण, वात्सल्य और भक्ति हैं। इन रसों की अनुभूति हम द्रवित चित्त होकर करते हैं। यह द्रवित होने की स्थिति, संकुचित होने की स्थिति से भिन्न है।

संकोच में वाह्य प्रभाव से बचाव की स्थिति रहती है, द्रुति में अपने को तरल बनाकर दूसरे से एकाकार और हृदय से हृदय मिलाने की स्थिति बनती है। यह द्रुति की स्थिति बड़ी व्यापक है, इसमें अपने पराये का भेद मिट जाता है। इस स्थिति का सम्बन्ध अपनत्व के विस्तार से है, किन्तु यह विस्तार अहं का विस्तार नहीं, वरन् अहं का इदम में ओतप्रोत होना है। करुण में हम विपादग्रस्त व्यक्ति की संवेदना को ग्रहण करते हैं। और उसके शोक में हम द्रवित होकर उसकी सहायता करने की कामना रखते हैं। यह शोक भी प्रायः अपनों का शोक है। इसी प्रकार जो अपना है उसके प्रति त्याग और समर्पण, वात्सल्य और भक्ति इन दोनों रसों का मूल तत्व है, अतः द्रुति प्राय उस स्थिति में होती है जब चित्त संवेदनायुक्त होकर या अपने को मिटाकर अपनत्व का विस्तार करता है, अपनेपन की स्थिति वह दूसरे में देखता है। उसका यह विस्तार, विस्तार की प्रथम स्थिति से भिन्न है जो अहम् के विस्तार के रूप में है। यहां अपने को द्रवित करके दूसरे में मिलने की विशेपता है।

चित्त की चतुर्थ स्थिति दीप्ति की स्थिति है। दीप्ति का तात्पर्य है विशेष प्रकार की कांति, ज्योति, चमत्कार या माधुरी से युक्त होना। यह चित्त की प्रकाशमयी अवस्था है। इस स्थिति के अन्तर्गत श्रृंगार, अद्भुत और भक्ति रस आते हैं। भक्ति की अनुमति कई रूपों में होती है। वह इसलिए द्रुति की अवस्था में भी है, जिस में वात्सल्य भाव की प्रधानता है और दीप्ति की अवस्था में भी है, जिसमें कांता भाव की या माधुर्य भाव की अनुभूति है, और उस दशा में आलंबन-भेद से वह श्रृंगार के ही समकक्ष है। श्रृंगार के अन्तर्गत हम एक ऐसे हर्ष या उल्हास का अनुभव करते हैं जो माधुर्य का स्रोत है, और इस अनुभव के साथ हमारा चित्त दीप्त हो उठता है। इसी प्रकार की वात अद्भुत रस के प्रसंग में भी है। वहीं हम प्रसन्न विस्मय का अनुभव करते हैं और एक नयी दृष्टि प्राप्त करते हैं····जो प्रकाश की द्योतक है, अतः श्रृंगार, अद्भुत और भक्ति में चित्त की दीप्त अवस्था होती है और इसी रूप में वह क्रियाशील होता है। तटस्थ एवं मुक्त चित्त की आनुभूतिक क्रियाशीलता की ये चार अवस्थाएँ हैं, इनमें हम विभिन्न रसों का अनुभव करते हैं।

चित्त की आनुभूतिक क्रिया या रस का इस दृष्टि से व्यापार बराबर चलता रहता है और वह महत्वपूर्ण है। इसी कारण से भिन्न आचार्यों ने रस के महत्व को स्वीकार किया है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने कहा है :

काव्यस्थात्मा स ऐस्त्रार्थः ; तथा चादिववेःपुरा।
क्रौञ्चद्वंद्वावियोगोत्थ : शोकःश्लोकत्वमागतः ॥

जिससे स्पष्ट होता है कि ध्वनिपरंपरा की स्थापना करते हुए भी रस की प्रधान महत्ता को स्वीकार करते हैं। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष की आत्मा को रसरूप ही माना है। और इसी प्रकार भोजराज ने "रसमयजगत" के महत्व को स्वीकार करते हुए कवि को श्रृंगारी होना वांच्छनीय कहा है। वे रसत्व की अन्तिम स्थिति में केवल

शृंगार को ही स्वीकार करते हैं, अन्य रस मध्यवर्ती स्थिति में आते हैं, पूर्णस्थिति में नहीं, उनका कथन है—

> शृंगारी चेत कवि काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
> सचेत् भवति वीतरागो नीरसं व्यवतमेव तत् ॥

काव्यालंकार के रचयिता रुद्र का भी विचार है कि रस के बिना रमणीय काव्य नहीं रचा जा सकता । "शृंगारप्रकाश" में भोजराज ने स्पष्ट कहा है कि—

> वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
> सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोवितं प्रतिजानते ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाटक और काव्य में रस का सर्वोत्कृष्ट महत्व व्यापकता से स्वीकृत है, क्योंकि रस चित्त को मूलतः और गहराई से प्रभावित करता है ।

यहाँ पर चित्त के प्रभाव के आधार पर हम रसों और भावों के बीच का अन्तर भी स्पष्ट कर सकते हैं । जैसा कि अभी कहा गया कि चित्त की प्रभावित होने की अर्थात् आनुभूतिक क्रियाशीलता की चार अवस्थाएँ हैं—विस्तार, संकोच, द्रुति और दीप्ति । रसानुभूति के अवसर पर इनमें से किसी भी स्थिति की क्रिया पूर्ण विकास और विस्तार को प्राप्त होती है । जब चित्त पूर्णतया इस प्रकार की क्रिया में रम जाता है, तब रसत्व संपादन होता है, परन्तु भाव की स्थिति एक प्रकार का स्पंदन मात्र है वह पूर्ण क्रिया की स्थिति नहीं । उसे हम आनुभूतिक संस्पर्श के रूप में देख सकते हैं । इस स्थिति में प्रभाव की संवेदना को प्राप्त करता हुआ भी चित्त समग्रता क्रियाशील नहीं होता, ऐसी दशा में इसलिये रसानुभूति न होकर केवल भावानुभूति होती है । रस पूर्ण और मुक्त क्रियाशीलता की स्थिति है ।

जिस प्रसंग में एक प्रायः उठायी जाने वाली शंका पर भी विचार करना आवश्यक है वह यह कि रस सुखात्मक है या दुखात्मक भी है ? सुख और दुःख सामान्य जीवन की मानसिक अनुभूतियाँ हैं । इन अनुभूतियों का सीधा व्यक्ति से संबंध रहता है । हमें किसी विपरीत परिणाम वाले कार्य पर दुःख होता है और अनुकूल परिणाम वाले या शरीर को आराम देने वाले कार्य पर सुख होता है और इनका सम्बन्ध हमसे होता है । पर दूसरे के सुख-दुख पर जो हमारी अनुभूति होती है, वह अनुभूति किसी परिस्थिति के द्वारा हमारे ऊपर पड़ने वाले अनिवार्य कारण से नहीं होती, वरन् हमारी मानसिक वृत्ति के कारण होती है । इसके अंतर्गत हमें कभी कभी दुर्वृत्ति के कारण दूसरे के सुखमें दुःख और दुःखमें सुखकी अनुभूति होती है । साथ ही सुवृत्ति के कारण दूसरे के दुःख में दुःख और 'सुख में सुख अनुभूति होती है । दुर्वृति कुवृत्ति का सम्बन्ध हमारी मूल प्रकृति से होता है । फिर भी यहाँ पर यह समझना आवश्यक है कि जो सुख या दुःख की अनुभूति हमारे अपने ऊपर सीधे पड़ने वाले परिणाम के प्रसंगों द्वारा होती है, उससे भिन्न अनुभूति दूसरों के सुखमें सुखी और दुःख में दुःखी होने पर होती है । दूसरी कोटि की अनुभूति सात्विक स्तर पर ही संभव है । कभी ऐसा भी होता है कि कि हम यह अनुभव करें कि दूसरे के सुख-दुःख से हमें क्या

मतलब ? इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । यह स्थिति राजसी प्रकृति की हो सकती है । अतः सात्विक प्रकृति की अनुभूति सामान्य सुख-दुखात्मक न होकर विशिष्ट प्रकार की होती है । यह एक प्रकार से सुख-दुःख की संवेदना है । इस प्रकार की संवेदना में हमारी अनुभूति निर्वैयक्तिक होती है, पर हम दूसरे की वैयक्तिक सुख-दुःखानुभूति में भाग ले सकते हैं । सुख की वृद्धि में और दुःख को कम करने में हम हाथ बंटा सकते हैं । अतः यह निर्वैयक्तिकता एक पक्षीय है । जब हम काव्य या नाटक में जिस प्रकार के सुख-दुःख पूर्ण दृश्यों को देखते हैं, तब दो बातें विशेष रूप से हमारे सामने आती हैं, एक तो यह कि निर्वैयक्तिकता दोनों ओर से रहती है और दूसरे यह कि वास्तविक पात्र न होने से वे हमारी तमोगुण ईर्ष्या या द्वेष के शिकार नहीं होते अतः यह संवेदना आनन्दात्मक है । इसे हम न सुखात्मक कह सकते हैं और न दुखात्मक ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह आनंदानुभूति क्या सभी रसों में एकसी रहती है ? नहीं । शृंगार रसकी अनुभूति वीभत्स या रौद्र की अनुभूति से भिन्न होती है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ अधिक संवेदनाशील व्यक्ति करुण रस से युक्त नाटक नहीं देख सकते । उनकी गहरी संवेदनाशीलता के कारण ऐसे दृश्य उनके लिये सह्य नहीं है । पर वे हास्य या शृंगार के दृश्यों को देख सकते हैं । अतः यह स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के रसों में अनुभूति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है । इसीलिए रसानुभूति एक अहंवाद है । जीवन के दृश्य जो इस प्रकार काव्य या नाटक में आते हैं वे वास्तव में विविध आस्वादों के रूप में आते हैं । निर्वैयक्तिता के कारण हमारे सामने उपस्थित पात्र या दृश्य हमें आस्वाद भर देते हैं । जीवन के अन्य परिणामों के लिये चिंतित नहीं करते । अतः जिस प्रकार कड़ुआ, तीता, कसैला, नमकीन, मीठा, और खट्टा अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार रुचिकर आस्वाद हैं, उसी प्रकार विभिन्न रस भी । ये रस भी विभिन्न कोटि के अनुभव तो देते ही हैं । प्रकृति के अनुसार इनका भी विभाजन किया जा सकता है, हम कह सकते हैं कि तासस प्रकृति से सम्बन्धित तीन रस हैं—वीभत्स, रौद्र और भयानक, राजस प्रकृति से सम्बन्धि तीन रस हैं—वीर, करुण और हास्य तथा सात्विक प्रकृति से संबंधित तीन रस हैं—शृंगार, अद्भुत और शांत । अतः इनकी अनुभूतियाँ भी अपनी-अपनी प्रकृति के आधार पर पाठक श्रोता या दर्शक को भिन्न-भिन्न रूपों में होती हैं । परन्तु दोनों ओर से निर्वैयक्तिक होने के कारण इन्हें क्रमशः हम तामस संवेदना या तामस आनन्द, राजस संवेदना या राजस आनन्द तथा सात्विक संवेदना या सात्विक आनन्द कह सकते हैं ।

यहाँ एक बात और विचारणीय तथा समझने की है । मानव प्रकृति बहुत सरल नहीं होती । अतः सत, रज और तम की प्रकृतियाँ सभी में होती हैं और विभिन्न प्रसंगों पर कम या अधिक अंशों में सम्मिश्रित भी रहती हैं । इसी प्रकार से जीवन के चित्रण में भी सदैव ठीक, स्पष्ट और अलग-अलग करके रस नहीं आते, पर वे भी सम्मिश्रित रूप में आते हैं । इस कारण रसानुभूति में जटिल संवेदना की अनुभूति हमारे अंतर्गत प्रायः होती हैं । अतः प्रत्येक काव्य या नाटक में स्पष्ट तथा किसी रस जी शुद्ध अनुभूति की अपेक्षा भी हमें नहीं

करनी चाहिये। परन्तु इस जटिल या सम्मिश्रित अनुभूति का तात्पर्य यह नहीं कि हम इस कारण यह मान बैठें कि अब काव्य या नाटक में रस की स्थिति है ही नहीं। सम्मिश्रिति स्थिति हमें आज भी मिलती है।

रसानुभूति के प्रसंग में केवल एक रस की स्थिति मानने वाली विचार धारा भी है। इस प्रसंग में भवभूति, अभिनवगुप्त, भोजराज और विश्वनाथ के मतों का उल्लेख आवश्यक है। भवभूति ने । ऐको रस करुण एवं निमित्त भेदात्' कहकर एक करुण रस की ही स्थापना की है। उसके ही भेदरूप अनेक रस हैं। करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। 'शोक' चित्त को द्रवित करने वाला है, अतः इसकी व्यापक अपील है। इसकी द्रवित अवस्था में अनुभूति सहज होती है। चित्त की आर्द्र, तरल स्थिति किसी भी प्रभाव को ग्रहण करने में अधिक संवेदनशील होती है। हम कह सकते हैं कि करुण रस के जाग्रत होने पर अन्य सभी भाव और रस इसके अन्तर्गत मग्न हो जाते हैं। परन्तु इस स्थिति के कारण, करुण रस की व्यापकता और प्रबलता सिद्ध होती है। शोक की स्थिति सभी को द्रवित कर देती है। इस स्थिति में अन्य किसी भाव या रस की प्रधानता कार्य नहीं करती। पर क्या यह सत्य है कि एक करुण रस ही है अन्य रस नहीं ? भवभूति का तात्पर्य यह हो सकता है कि करुण ही एक ऐसा रस है जिसके जाग्रत होने पर अन्य कोई रस या भाव कार्य नहीं करता, परन्तु यह नहीं कि अन्य रसों की स्थिति ही इससे अस्वीकृत हो जानी चाहिये। चित्त की शोकार्त दशा में शृंगार हास्य आदि कुछ अच्छे नहीं लगते, अतः इसकी अनुभूति बड़ी गहरी होती है, यही सत्य है। पर अन्य रस करुण के भेदरूप कैसे स्वीकार किये जा सकते हैं। करुण के भेद शृंगार, हास्य-अद्भुत जैसे रस कैसे हो सकते हैं ? अतः भवभूति के कथन से करुण रस की एक मात्रता नहीं, वरन् प्रबलता ही स्पष्ट होती है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ''शांत'' को एकमात्र रस माना है। शांत में ''शम'' की स्थिति है जिसमें चित्त समरस रहता है। इसमें एक प्रकार से चित्त निर्विकारत्व की स्थिति में है क्योंकि वह लौकिक बन्धनों से मुक्त और शान्त होता है, जो आनन्द की अवस्था है। अतः आनन्द के शुद्ध रूप का आस्वाद इसी स्थिति में संभव है। अन्य स्थितियों में चित्त किसी न किसी प्रकृति के विकार से युक्त है। अतः अन्य स्थितियों में रस की विकारी स्थितियाँ हुई और शांत में निर्विकार एवं शुद्ध चित्त की स्थिति होने के कारण रस की वास्तविक दशा यही है। रस की इस मूल दशा से ही सत, रज, तम के विविध विकारों से प्रेरित एवं युक्त चित्त विभिन्न रसों की अनुभूति करता है। ऐसी दशा में मूलस्थ होने के कारण एकमात्र रस ''शांत'' माना जा सकता है।

परन्तु कुछ अन्य विचारक 'शांत'' को रस ही नहीं मानते क्योंकि इस स्थिति में निष्क्रियता प्रधान होने के कारण, आस्वाद एवं क्रिया विरति की अवस्था हो जाती है, अतः रसत्व की प्रबल अनुभूति इसमें कैसे हो सकती है ? यह उनका तर्क है। परन्तु इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि वह चित्त की आत्मरति की स्थिति है, मनरति या इन्द्रिय-रति की नहीं। यह निर्विकृति की स्थिति है; अतः इस स्थिति में जीवन और जगत् के दृश्यों की एक

तटस्थ स्वच्छ संवेदना अधिक संभव है ; अन्य रसों में कुछ न कुछ हमारे अहं संबंधी-विकार अर्थात् निजी-परिणाम-चेतना रहती है, पर इसमें वह पूर्णतया अनुपस्थित है, अतः रसानुभूति की स्वच्छ, शुद्ध अवस्था इसी रस में संपादित होती है। अतएव यह रसानन्द की शुद्ध अवस्था प्रदान करता है । इसी लिये दशरूपक में धनंजय ने कहा है :

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता, न द्वेषरागो न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्त कथितो मुनीन्द्रः सर्वेषु भावेषु शम प्रधानः ।।

इसके साथ ही साथ भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में स्पष्ट लिखा है :

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते । पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ।।

अर्थात् शान्त से भाव प्रादुर्भूत भी होते हैं और अपना उद्देश्य पूरा करके उसी में समाविष्ट भी हो जाते हैं । इसके साथ ही साथ यदि रस "ब्रह्मास्वाद सहोदर" है, तो शान्त रस ही इस स्थिति के अधिक निकट पहुँच सकता है, क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति भी निर्वेद और ज्ञान से होती है और शान्त का भी स्थायी भाव निर्वेद है । वह शांति दायक है । अतः हम चाहे यह न कहें कि एक मात्र रस शान्त ही है, पर यह कह सकते हैं कि मूल रस शान्त ही है ।

इसी विचारधारा से प्रसंग में "अद्‌भुत" रस का विवेचन भी आता है । आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में नारायण पंडित के मतानुसार "अद्‌भुत" रस को ही सब रसों के मूल में स्थिति माना है । उनका कथन है कि रस का सार "चमत्कार" है और इस चमत्कार की अद्‌भुत रस में पूर्ण सिद्धि होती है । यदि चमत्कार को रस का सार माना जाय, तो अद्‌भूत की व्याप्ति रसों में होती है । विश्वनाथ ने कहा है :—रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते । तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः ।
तस्माददभुतमेवाह कृति नारायणो रसम् ।। सा. द.)

अतः इस दृष्टि से अद्‌भुत ही रस है । भानुदत्त और भरत ने भी अद्‌भुत रस के महत्व को स्वीकार किया है । 'अद्‌भुत' रस की अनुभूति सात्विक प्रवृत्ति द्वारा होती है । इसी प्रवृत्ति की प्रधानता रहस्यवाद में भी रहती है । इस दृष्टि से देखने पर जीवन में एक वैचित्र्य दिखलायी देता है । बन्धन में डालने वाली लौकिकता के स्थान पर दिव्यता प्रकट होती है । इसी 'अद्‌भुत' की दृष्टि लेकर जायसी ने रहस्यवादी काव्य पद्मावत रचा और इसी दृष्टि से ही कबीर को सुई के वेध से हाथी, घोड़े, पर्वत निकलते हुये दिखलायी दिये । प्रसादजी ने भी इसी दृष्टि से "रहस्यवाद" की काव्य की मूलधारा के रूप में स्वीकार किया है । उपनिषदों में भी इस की स्थिति मिलती है, फिर भी केवल अद्‌भुत रस को ही रस स्वीकार नहीं किया जा सकता । यह अवश्य माना जा सकता है कि इसकी अन्य रसों के बीच प्रधान स्थिति है ।

एक और मत है जो श्रृंगार को ही एकमात्र रस मानता है । यह मत भोजराज का है । उन्होंने सभी प्रवृत्तियों के मूल में अहंकार को माना है और उस की चरम परिणति

शृंगार में सिद्ध की है। उनका कथन है:—शृंगारी चेत्कवि काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥

उनका मत है कि शृंगार ही एकमात्र रस है। उसी से अनेक भाव उत्पन्न होते हैं, संवर्धित होते हैं और अन्त में समा जाते हैं। जिस प्रकार कि अग्नि से चिनगारी और लपटें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उनके मतानुसार आठ स्थायी, तेंतीस संचारी और आठ सात्विक-भाव अर्थात् उनचास भाव, में भाव मात्र है और शृंगार ही रस है। ये सभी उस रस को प्रबल करते हैं। शृंगारप्रकाश के अनुसार:—

रत्यादयोऽर्ध शतमेक विवर्जिता वि भावाः पृथग्विध विभाव भुवो भवन्ति ।
शृंगार तत्व ममितः परिवारयन्तः सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति ॥

अग्नि से उत्पन्न ज्वाला के समान अन्य सभी भाव शृंगार को प्रकाशित और उद्दीप्त करते हैं। भोज द्वारा प्रतिपादित शृंगार के इस स्वरूप को केशव, देव जैसे हिन्दी-कवियों ने भी मान्यता दी है जिनके द्वारा अन्य रस शृंगार के ही मूलतः पोषक सिद्ध किये गये हैं। परन्तु भोजराज ने शृंगार के एक रसत्व की स्थापना में उसकी तीस अवस्थाओं का विवरण दिया है। प्रथम अवस्था अहंकार की है जो रस की उत्पत्ति का मूल कारण है। यह पूर्वा कोटि है। इसी से भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। यह विविध भावों की अवस्था मध्यमा कोटि की है। भोज ने इसे व्यवहार अवस्था कहा है जिसमें रस अनेक दिखलायी देते हैं। उनके विचार से केवल नौ ही नहीं, वरन् उनचासों भावों का इस अवस्था में रसत्व में परिणत हो सकते हैं। यह द्वितीय अवस्था भावों के प्रकाश की अवस्था है। इसके उपरान्त तृतीय अवस्था भावना की अवस्था है। जो प्रेमरूप है। प्रत्येक प्रेम आत्म विस्तार, अभिमान या अहंकार होने के कारण मूल अहंकार की परमाकाष्ठा है या शृंगार है। काम सभी भावों के मूल में है। अतः उसकी पूर्ण परिणति शृंगार ही होगी। शृंगार प्रकाश में उन्होंने कहा है:—

रसेभ्यो भावा इत्यप्युत्कम ।
नहि वहवो रसः - अपि तु एक एव शृंगारो रसः॥ २. ३१५

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि अहंकार जो सभी के अन्तर्गत है, वही सभी भावों के मूल में है। वह काम को जन्म देता है और उसके साथ उसकी पूर्ति, तुष्टि, संघर्ष, विरति आदि के अनुसार विविध भावों का विकास होता है यही अन्य रसों की भी स्थिति है। पर अन्त में यह काम प्रेम में परिणति होता है और तब असली रस दशा प्राप्त होती है और यह शृंगार रस है जिसमें अहंकार की पूर्ण एवं विकृतिहीन परिणति होती हैं।

भोज की यह धारण दार्शनिक और आदर्शवादी है। सभी रसों और भावों की अन्तिम परिणति शृंगार में होती है, यह स्वीकार करना कठिन है। अतः हम उनके द्वारा प्रतिपादित मध्यमाकोटि या व्यवहार की अवस्था ही रस के प्रसंग में अधिक व्यावहारिक मानते हैं। भरत मुनि की रस धारणा इसी कोटि की है। उन्होंने रस के आस्वाद की तुलना अनेक पदार्थों से युक्त व्यंजन के आस्वाद से की है। यह रस अनेक भावों, विभावों और अनुभावों से युक्त होने पर आस्वादित होता है। नाट्य शास्त्र में स्पष्ट है:

यथा बहु द्रव्य युनैर्व्यजनैः बहुभियु तम । आस्वादयन्ति भुंजाना भुंक्ते भुक्तश्विदोजनः
भावाभिनय संयुक्ताः स्थायिभावोस्ततो बुधाः
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नातयरसाः स्मृता ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक रसत्व की कल्पना आदर्शवादी और विशिष्ट कल्पना है। चाहे वह करुण को अथवा अद्भुत, शृंगार या शान्त को किसी को भी एकमात्र रस मानकर चलनेवाली क्यों न हो। सामान्यतया अनुभवगत वस्तु यही है कि रस विविध रूप है। उनमें से विशिष्ट रस के प्रति आकर्षण या अभिरुचि व्यक्ति की प्रकृति—विशेष के कारण रहती है। इन विविध रसों या रसांगों से चित्त क्रियाशील होता है जो उसके विस्तार, संकोच, द्रुति और दीप्ति रूप में प्रमुखतया अपने को प्रकट करता है। सामान्यतः इन चारों प्रकार की क्रियाओं में रसानुभूति होती है और हम विभिन्न रसों का आस्वाद करते हैं।

रस सुख-दुःखात्मक न होकर भी आस्वाद में भिन्न भिन्न हैं। उनका अनुभव अनुभूत्यात्मक न होकर संवेदनात्मक है, अतः उसे आनन्द कहा जा सकता है, क्योंकि वह अन्य लौकिक अनुभवों से भिन्न तथा वास्तविक अनुभूति का छना हुआ रूप है। वह लेखक या अभिनेता के माध्यम से हमें प्राप्त होता है और वास्तविक होता हुआ भी यथार्थ नहीं होता। इस कारण उस अनुभूति को हम सुख-दुःखात्मक अनुभूति से भिन्न कहते हैं जो हमारी निजी यथार्थ अनुभूति होती है।

जीवन में रस अथवा उसके अंगों की अनुभूति हमें बराबर होती रहती है। कभी मौखिक निवेदन-द्वारा, कभी प्रत्यक्ष अभिनय-द्वारा और कभी साहित्य और कला-द्वारा। प्रत्येक युग और समाज इसे प्राप्त करता रहता है। अतः इसकी स्थिति शाश्वत है। रस चित्त की आनुभूतिक क्रिया है, बौद्धिक क्रिया नहीं। अतः वैचारिक क्रिया रस की अनुभूति से भिन्न है। साहित्य या काव्य का सम्बन्ध आनुभूतिक क्रिया से है, केवल वैचारिक क्रिया से नहीं। अतः रस या उसके अंगरूप भावादि की स्थिति साहित्य या काव्य में अनिवार्य मानी जा सकती है; पर ऐसी दशा में हमें काव्य या साहित्य की धारणा स्पष्ट करनी होगी। वह मेरे विचार से कल्पना और अनूभूति से गृहीत सत्य की मनोरम अभिव्यक्ति है। यदि हम ऐसा मान सकें, तो काव्य में रस या रसांग अर्थात् भावादि की स्थिति शाश्वत रूप से स्वीकार की जा सकती है।

७

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद : तुलनात्मक अध्ययन

डा० सियारामशरण प्रसाद एम० ए०, पी-एच० डी,

प्राचीनकाल से भारत एक समृद्ध देश रहा है। यहां मात्र आध्यात्मिक चिन्तन की श्रीवृद्धि नहीं थी, अपितु काव्य और कलागत सैद्धान्तिक चिन्तन के क्षेत्र में भी गहराई और सूक्ष्मता प्रतिष्ठापित करने की तीव्र उत्कण्ठा का संचरण नैसर्गिक रूप में था और जिसके फलस्वरूप भारत में चतुर्मुखी विकास और प्रगति के तत्व आलोचकों को दृष्टिगत होते हैं। विदेशी विद्वान भी इसी अभिमत का प्रतिपादन पर्याप्त तटस्थता से करते हैं।

जब कला की पर्याप्त समृद्धि होती है, उसका बहुमुखी विकास होता है, वह स्थूलता से निरन्तर सूक्ष्मता की ओर बढ़ती है तब कलाशास्त्री उसके दर्शन, उसकी प्रक्रिया और अन्य अपेक्षित तत्वों का विवेचन और आकलन तथा मूल्यनिर्धारण करने में तत्पर हो जाते हैं। कला की श्री वृद्धि विशेष सांस्कृतिक तथा तात्विक मूल्यबोध सजग विचारकों को अनुशीलन तथा तर्क करने की प्रेरणा देकर व्यापक पृष्ठभूमि उपस्थित करने में समक्ष होते हैं। कला की गहराई एवं सृजन-प्रक्रिया, तथा मनुष्य की जिज्ञासु- प्रवृत्ति तथा तल स्पर्श की स्वाभाविक मनोकांक्षा इसी दिशा के महत्वपूर्ण तत्व स्वीकृत किये जायेंगे। भारतीय साहित्य ने अपनी समृद्धि के अनुकूल कला-चिन्तकों के लिए महत्वपूर्ण स्वीकृत होकर, उसने अपने गूढ़ तत्वों के विवेचन तथा आकंलन का वातावरण बना दिया, जिसके फलस्वरूप प्राचीनकाल में भी साहित्य के अनेक सिद्धान्त निर्मित हुए, साहित्य के अनेक महत्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित हुए तथा अनेक विचार वितर्क द्वारा गतिशील राह निर्मित हुई। भारतीय साहित्यशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं था। रस और अभिव्यक्ति तथा रसबोध आदि दृष्टियों से अनेक आचार्यों ने अनेक नूतन सिद्धान्तों का नवालोक जगत को दिया। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्तिवाद को इसी धरातल की ऊपज स्वीकार करना अधिक सही होगा। भारतीय संस्कृत साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन, चिन्तन पर्याप्त हुआ जिसके फलस्वरूप रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि अनेक सम्प्रदाय शास्त्रीय दृष्टि से निर्मित हुए। साहित्य क्षेत्र में क्रोचे और कुन्तक महत्वपूर्ण चिन्तक के रूप में माने जाते हैं जिन्होंने क्रमशः अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद का नारा दिया और जिन्होंने अपने ढंग से साहित्य का विवेचन किया।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय—जैसा ज्ञात ही है कि वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्य कुन्तक थे जिन्होंने जोरदार शब्दों में वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राण स्वीकार किया। उन्होंने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही मान लिया। कुन्तक के वक्रोक्ति का अर्थ "विचित्र विन्यास क्रम

जो एक ओर शास्त्र आदि में प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक शब्द और अर्थ के उपनिबंध से"[1] है। उनके मतानुसार वक्रोक्ति "वैदग्ध-भंगी-भणिति" (कथन की विचित्रता) कवि प्रतिभा का अवदान है। इतना ही नहीं उन्होंने इसकी परिभाषा व्यापक वना दी जिसके अन्तर्गत अलंकार, प्रवन्ध-कौशल सभी को अन्तर्भूत माना। उन्होंने इसे छः भागों में विभक्त कर वर्ण-विन्यास से लेकर घटना-विन्यास तक व्यापक वना दिया—

(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता———
(२) पद-पूर्वाध-वक्रता———
(३) पद-परार्ध-वक्रता———
(४) वाक्य-वक्रता———
(५) प्रकरण-वक्रता———
(६) प्रवन्ध-वक्रता———

वर्ण-विन्यास के अन्तर्गत यमक जैसे शब्दालंकार तथा उपनागरिकता वृत्ति आदि के नाद सौन्दर्य को ग्रहण किया गया। पद-पूर्वाध वक्रता के अन्तर्गत ६ भेद किये गए—जैसे रुढ़ि-वक्रता, पर्याय-वक्रता, विशेषण-वक्रता आदि। सूक्ति और नवीन वाक्य भंगिमाओं को भी वाक्य-वक्रता, के अन्तर्गत माना गया। इसी प्रकार प्रकरण-वक्रता स्वतन्त्र उद्भावनाओं को समझना चाहिए, जिससे मूल कथा में रमणीयता आती है। प्रवन्ध-वक्रता समस्त कथा के प्रवन्ध कौशल से सम्बद्ध है। इसी से कवि कथा को अपनी विशिष्ट प्रतिभा की शक्ति तथा प्रकृति से मौलिक रूप प्रदान कर पाने में समक्ष होता है। विद्वानों एवं आचार्यों के मतानुसार "शाकुन्तलम्" में दुर्वासा-शाप प्रकरण इसी उद्भावना का उदाहरण है। प्रवन्ध-वक्रता को रसोत्कर्ष की दृष्टि के महत्व दिया जायगा। इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण कथा के घटना-विधान से होता है। (डा०नगेन्द्र के मतानुसार किसी प्रसिद्ध कथा की एक घटना पर दूसरा ढांचा खड़ा कर देने में प्रवन्ध-वक्रता है।)

"निश्चय ही वक्रोक्ति का सम्बन्ध कवि-प्रतिभा से होता है।"

आचार्य कुन्तक के पूर्व भी वक्रोक्ति शब्द प्रचलित था। यह प्राचीन शब्द है इसे सभी विद्वान एक स्वर से स्वीकार करते हैं। परन्तु इसे सम्प्रदाय बनाकर व्यापक अर्थ देने की चेष्टा कुन्तक ने ही की। "कादम्बरी" में "परिहास-जल्पित" के अर्थ में वक्रोक्ति को ग्रहण किया गया था। आचार्य भामह ने इसे सभी अलंकारों का केन्द्र (मूल) स्वीकार किया था।[1] आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति को श्लेष-पोषित माना (अर्थात् उसे स्वाभावोक्ति का विपयर्य स्वीकार किया)। रुद्रट ने जहाँ इसे शब्दालंकार स्वीकार किया वहाँ एकमात्र वामन जैसे साहित्यशास्त्री ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में ग्रहण किया।

जहाँ कुन्तक का सिद्धान्त पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न था वहाँ परवर्ती आचार्यों ने भी उसके सिद्धान्त को अस्वीकार किया। मम्मट आदि वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही मानते

१ डा० नगेन्द्र———रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ११५

रहे, जिसके फलस्वरूप कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय उनके बाद ही अस्वीकृत हो गया, अस्वीकार्य हुआ ।

साहित्याचार्य तथा विद्वान साहित्यकार डा० नगेन्द्र ने कुन्तक के वक्रोक्ति सम्प्रदाय का सविस्तार विवेचन कर निम्नलिखित निष्कर्ष प्रतिष्ठित किया है—

(क) वक्रोक्ति के लिए वैचित्र्य सर्वथा अनिवार्य है क्योंकि उसमें किसी न किसी रूप में असाधारणता अपेक्षित है ।

(ख) वक्रोक्ति की जो व्यापक परिभाषा कुन्तक ने दी उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के काव्य आ जाते हैं । यद्यपि उन्होंने "स्वाभावोक्ति" में काव्यत्व निषिद्ध ठहराया तथापि व्यवहार रूप में भिन्न विचार प्रतिपादित किया अर्थात् "वस्तुओं के स्वभाव का सफल अंकन प्रायः वाह्य अलंकारों से सज्जित वर्णन की अपेक्षा अधिक अह्लादकारी होता है" ऐसा माना ।

(ग) ध्वनिवादी ने जहाँ वक्रोक्ति को अलग सम्प्रदाय के रूप में न स्वीकार कर उसे ध्वनि के अन्तर्गत स्वीकार किया वहां कुन्तक ने ध्वनि को ही वक्रोक्ति के अन्तर्गत ठहराया । प्रकारान्तर से कुन्तक ने रस को पर्याप्त महत्व दिया ।

(घ) कुन्तक ने कवि-व्यापार को व्याख्यातीत माना और उसकी कोई परिभाषा नहीं दी । वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे कवि को असमान्य (Alnormal) और कवि प्रतिभा को पूर्वजन्म के पुण्य से प्राप्त देवीशक्ति मानते थे ।

(ङ) कुन्तक के अनुसार प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है और प्रत्येक काव्य में वक्रता अनिवार्य तत्त्व है । परन्तु कुन्तक के इस मत को स्वीकार करना कठिन है । यह सत्य है कि प्रत्येक काव्य में वक्रोक्ति हो परन्तु सभी वक्रोक्ति में काव्य हो यह आवश्यक कदापि नहीं है । क्योंकि काव्य में सरसता अपेक्षित है जो प्रत्येक वक्रोक्ति में होती यह अनिवार्य नहीं है । यही मूल कारण है रसवादियों ने चित्र-काव्य को काव्य नहीं माना, ध्वनिकारों ने भी वैसे काव्य को अधम काव्य कहा । कुन्तक का यह कहना सही माना जायेगा कि प्रत्येक काव्य में वक्रता होती है, उचित चमत्कार होता है ।

कुन्तक का यह कहना कि काव्य का अह्लाद (रस) उक्ति-वक्रता पर निर्भर है तथा उसी के द्वारा उत्पन्न होता है सर्वथा ग्राह्य नहीं है । डा० नगेन्द्र का अभिमत पूर्णतया सही है है कि " आह्लाद के कारण ही उक्ति में वक्रता आती है ।"

इसी तरह उन्होंने वक्रोक्ति को अत्यधिक महत्व दिया रस को नहीं । परन्तु काव्य की आत्मा रस होगा—वक्रोक्ति को मंजिल मानना (जैसे कि कुन्तक ने भूल से मान लिया) ठीक नहीं है । इसी प्रकार उसने वक्रोक्ति (वैदग्ध्य कवि कौशल) को अधिक महत्व देकर कल्पना तत्व को भाव तत्व से विशेष महत्व देकर एक भूल की । अतः यह भी उनके सिद्धान्त में दोष ही माना जायगा ।

अभिव्यंजनावाद—इसके जनक क्रोचे थे । पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार वक्रोक्ति-वाद का विलायती उत्थान ही अभिव्यंजनावाद है ।

आत्मवादी क्रोचे मूलरूप से उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकता के विरुद्ध अन्तः सत्ता को प्रतिष्ठित करने वाले दार्शनिक थे। उसके मतानुसार कला का सम्बन्ध सहजानुभूति से ही है क्योंकि "किसी वस्तु के संसर्ग से हमारी आत्मा में कतिपय अरूप झंकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं जिनको वह अपनी सहज शक्ति कल्पना द्वारा समन्वित कर एक पूर्ण बिम्ब दे देती हैं और इस प्रकार हमें उस वस्तु की सहजानुभूति हो जाती है जो बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र होती हैं।" उसने यह भी माना कि आत्मा की दो क्रियाएँ होती हैं—(१) विचारात्मक, (२) व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के दो रूप हैं—(क) तर्क (ख) सहजानुभूति। इसी तरह उसने व्यवहारात्मक क्रिया के दो रूप स्थापित किये—(१) आर्थिक तथा (२) नैतिक। कला का सम्बन्ध सहजानुभूति से ही होता है।

क्रोचे की सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है। उसने अभिव्यंजना का वर्गीकरण करना अनुचित, ठहराया। उसके अनुसार "अभिव्यंजना तो एक स्वतंत्र इकाई है जो वर्ग कभी नहीं बन सकती।" इतना ही नहीं प्रत्युत् उसने अलंकारों के नामकरण के भेद को निरर्थक तथा भ्रामक मानता हुआ उसने अलंकार और अलंकार्य के भेद को भी निषेद्ध ठहराया। उसके अनुसार कवि की सहजानुभूति अनुवादक की सहजानुभूति नहीं हो सकती इसलिए उसके अनुवाद को असंभव ठहराया। शैली और कवि-व्यापार का कोई स्वतंत्र, अस्तित्व भी वह स्वीकार नहीं करता। यह भी ज्ञातव्य है कि उसने काव्य में वस्तु और अभिव्यंजना में अभेद कहा। वस्तु की सत्ता मात्र, अरूप झंकृतियों को उत्पन्न करती है। हमारी आत्मा काव्य वस्तु को तभी ग्रहण करती है जब वह आकार धारण कर लेती है। इसीलिए कला में आकार से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं रहता और वस्तु और आकार दोनों का सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना जाता।

क्रोचे ने यह भी माना कि कला "आध्यात्मिक क्रिया है"। और कलाकृति उसका मूर्तरूप।

क्रोचे के सिद्धान्त के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने निम्नालिखित तत्वों का उद्घाटन किया है [1]—

(१) अभिव्यंजना सहजस्वतंत्र आध्यात्मिक क्रिया है जिसका आधार मूलतः कल्पना है।

(२) अभिव्यंजना की सफलता ही सौन्दर्य है और सौन्दर्य की श्रेणियां नहीं हो सकती।

(३) अभिव्यंजना का एक अविभाज्य रूप ही होता है। अतः काव्य में शैली, अलंकार आदि का अलग महत्व नहीं होता।

(४) व्यजक उक्ति और व्यंग्य-भाव एक दूसरे से अलग अस्तित्व नहीं रखते।

अब हम क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में प्राप्य कुछ समय तत्वों पर विचार करें-

---

१. रीति काव्य की भूमिका—पृष्ठ-१२०-१२१।

(१) उपर्युक्त दोनों आचार्यों के मतानुसार कला आत्मा की क्रिया है, जो अनिर्वचनीय है ।

(२) दोनों ही वस्तु से अधिक महत्व अभिव्यंजना को देते हैं ।

(३) दोनों उक्ति में काव्यत्व (सौन्दर्य) स्वीकार करते हैं ।

(४) दोनों अभिव्यंजना में सौन्दर्य मानते हैं ।

(५) दोनों सौन्दर्य की श्रेणियाँ मानने से अस्वीकार करते हैं ।

(६) सफल अभिव्यंजना को इकाई मानते हैं ।

उन दोनों आचार्यों के कथन को सही रूप में समझने के लिए उनकी निम्नलिखित पंक्तियां देखें—

"न च रीतीनाम् उत्तमाधममाध्यमभेदेन वैविध्यम् व्यवस्थापयितुम न्याय्यम् ।

कुन्तक

The beautiful does not possess degree, for there is no coneiving a more beautiful that is on expressive that is more expressive and adeduate that is more adequate.—क्रोचे

अब हम इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्त में प्राप्य वैषम्य पर भी विचार कर लें । दोनों में निम्नलिखित भिन्नताएँ हैं—

(१) दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि कुन्तक का वक्रोक्तिवाद उक्ति-वक्रता से संबन्ध रखता है परन्तु अभिव्यंजनावाद मात्र उक्ति से ।

(२) वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिकवाद के रूप में स्वीकार किया जाता है वहाँ अभिव्यंजनावाद अभिव्यंजना दर्शन (Philosopy) है ।

(३) वक्रोक्तिवाद कवि-कौशल पर निर्भर है वहाँ अभिव्यंजनावाद आध्यात्मिक आवश्यकता पर आधारित है ।

(४) वक्रोक्तिवाद अलंकार को लेकर चलता है परन्तु अभिव्यंजनावाद अलंकार की महत्ता ही अस्वीकार नहीं करता प्रत्युत उसकी सत्ता को गौण ठहराता है । उसमें यदि कहीं अलंकार आते हैं तो सहज उक्ति के रूप में ही ।

(५) वक्रोक्तिवाद में वस्तु को तथा कवि-कौशल (उक्त) को अलग सत्तायुक्त स्वीकार किया गया है । परन्तु अभिव्यंजनावाद इसके विपरीत विचार प्रतिपादन करता है । वह वस्तु को उक्ति से अलग नहीं मानता ।

(६) एक और महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि वक्रोक्तिवाद ने जहाँ कला की समस्या को बाहर से स्पर्श किया है वहां अभिव्यंजनावाद ने पूर्णतया भीतर से । इसी कारण अभिव्यंजनावाद सूक्ष्म वक्रोक्तिवाद कला के मूर्त रूपों की ओर ।

(७) अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध सहजानुभूति पर निर्भर है इसलिए रस से उसका सम्बन्ध निश्चितरूपेण अन्तरंग है । ठीक इसके विपरीत कुन्तक का वक्रोक्तिवाद कवि कौशल पर अधिक आश्रित है इसलिये रस से इसका सम्बन्ध बहिरंग

है । यही मूलाधार जिसमे अभिव्यंजनावाद का रसवाद से विरोध नही होता ।

(८) "वक्रोक्तिकार नित्य की बोल-चाल की रीति से सन्तुष्ट नहीं होते, "तत्रत्वं प्रसिद्ध-प्रस्थान-व्यतिरेक वैचित्र्यम् ।" मैं तो यह कहूंगा कि अभिव्यंजनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नही है । उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है । यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वाभावोक्तिया उक्ति है । वही कला है । वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण । अभिव्यंजनावाद में एक ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद है न स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति का ।"

उपसंहार :—

पं० रामचन्द्र शुक्ल "रमणीयता" के प्रतिपादक थे । उन्होंने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद पर कड़ा प्रहार किया । उनके मतानुसार—

(क) वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद एक ही है ।[1]

(ख) दोनों मात्र वाग्वैचित्र्य लेकर चला है । उनका कहना था कि अभिव्यंजनावाद न केवल अभिव्यंजना या उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास किया ।

(ग) हृदय की गम्भीर वृतियों से दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

(घ) दोनों में अभिव्यंजना या उक्ति ही सब कुछ है, वस्तु जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह गौण ।

(च) समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास दोनों में है ।

(छ) कला शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्पवाणी-हल्की धारणा ।

(ज) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रथक करने वाले प्रवन्ध काव्यों की ओर से उदासीनता और मुक्तको विशेषतः प्रेमोद्गार पूर्ण प्रगीत मुक्तकों की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति ।

(झ) आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की चेष्टा, असीम, अनन्त आदि शब्दों के माध्यम से ।

पं० रामचन्द्र शुक्ल जी की धारणा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के दोषों के प्रति यों है ।

(१) अलंकार ऊपर की वस्तु है जो शोभा के लिए पहनाई हुई वस्तु है । अतः वह अभियंजना या उक्ति में जुड़ नहीं सकता ।

(२) रस अलंकार आदि के नाना भेद कला की सिद्धि में कोई योग नहीं देते ।

(३) अनुभूति (Feeling) शरीर के योग क्षेम से सम्बन्ध रखने वाली भीतरी क्रिया है । अतः उसके सुखदायक-दुःखदायक उपयोगी-अनुपयोगी लाभकारी हानिकारी दो पक्ष अवश्य ही होंगे ।

(४) क्रोचे कला सम्बन्धी उदघाटन ज्ञान स्वरूप मानता है जिसमें एक विशेष प्रकार

---

१ चिन्तामणि—पृष्ठ-२१३ ,

का आनन्द भी बराबर लगा रहता है। उसके मतानुसार यह आनन्द और सब प्रकार के आनन्दों से सर्वथा भिन्न होता है।

संक्षेप में शुक्ल के आक्षेप पर विचार कर लें। वस्तुतः शुक्ल जी के आक्षेप में भ्रामकता का अंश अधिक है। यह ज्ञातव्य ही है कि अभिव्यंजनावाद में वर्ग्वैचिश्र्य की चर्चा नहीं है मात्र अभिव्यंजना पर जोर डाला गया है। अतएव शुक्लजी के आक्षेप में स्पष्टतः दोष है।

जैसा ऊपर ही स्पष्ट किया जा चुका है कि अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति में पर्याप्त अन्तर है अतः दोनों को एक मानना भी भ्रामक बात है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कुन्तक के "वैचिश्र्य" का रूप बहुत व्यापक है और डा० नगेन्द्र के मतानुसार कुन्तक की "वक्रता" या "वैचिश्र्य" से शुक्लजी की "रमणीयता" में कोई अन्तर नहीं है।

जहाँ शुक्ल जी ने वस्तु को लेकर उन पर आक्षेप किया है वहाँ भी सहमत होना असंभव है क्योंकि दोनों वादों में वस्तु का तिरस्कार नहीं मिलता। कुन्तक ने तो वस्तु का बहुत महत्व स्वीकार किया है और पृथक विवेचन ही प्रस्तुत किया है। क्रोचे ने भी प्राकृतिक वस्तु को कला का उद्दीपक मानते हुए उसके महत्व को गोण नहीं किया है। अतः शुक्ल जी के मत से पूर्णतया सहमत होना कठिन है।

———

५ काव्य में अभिव्यंजनावाद—"चिन्तामणि"—द्वितीय भाग,

८

साधारणीकरण

डा० गयाप्रसाद उपाध्याय शास्त्री एम०ए०, पी-एच० डी०

'साधारणी-करण' संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृत भाषा के शब्द प्रायः धातुओं में प्रत्यय जोड़कर बनते हैं। अतएव प्रत्येक निष्पन्न शब्द का एक विशेष अर्थ होता है। 'साधारणी-करण' 'साधारण' शब्द से स्वार्थ में 'च्वि' प्रत्यय जोड़ कर बना है।[1] इसका अर्थ है 'असाधारण का साधारण किया जाना', अर्थात् जो प्रारम्भ में असाधारण था और बाद में साधारण कर दिया गया। 'साधारणी करण' शब्द इसी तथ्य को प्रकट करने में समर्थ है। जो देश-काल की सीमा में आबद्ध है वह असाधारण है। इस प्रपंच का चराचर देश-काल की सीमा में आबद्ध है। ये सीमायें ही उसकी भिन्नता और उसका व्यक्तित्व है। यही प्राणि जगत् में उसका व्यक्तिगत वैशिष्ट्य है। साधारणीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो देशकाल की इन्हीं सीमाओं को समाप्त कर-असाधारणता को दूर कर-उनको साधारणता की भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। कहने का तात्पर्य यह कि इस व्यापार द्वारा व्यक्तिगत विशेषतायें समाप्त कर दी जाती हैं। काव्य में पात्रों एवं प्राकृतिक पदार्थों का चित्रण उनकी अपनी-अपनी विशेषता के साथ होता है। 'साधारणीकरण की सहायता से ये विशिष्ट वस्तु-पात्र सामान्य प्रतीत होने लगते हैं। इस व्यापार की कल्पना काव्यशास्त्र में रस-निष्पत्ति प्रसंग में की गई।

रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त का प्रारम्भ आचार्य भरत के सूत्र 'विभावानुभाव संचारि संयोगाद्रस-निष्पत्तिः' से हुआ था। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में इस सूत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा है। फलतः बाद में रस पर विचार करने वाले आचार्यों को भरत-सूत्र की व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ी और उन्होंने उसकी विभिन्न व्याख्यायें भी कीं। अपनी व्याख्या के अतिरिक्त अभिनव ने नाट्यशास्त्र की 'अभिनव-भारती' व्याख्या में तीन और व्याख्याओं का उल्लेख किया है। रस-निष्पत्ति कुल मिलाकर चार ही व्याख्यायें हैं। इन चारो व्याख्याओं के आचार्य क्रमशः ये हैं (१) भट्ट लोल्लट (२) श्री शंकुक (३) भट्टनायक और (४) भट्ट अभिनवगुप्त। प्रथम तीनों आचार्यों के रस-निष्पत्ति की व्याख्या के करने वाले ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनके मतों के सम्बन्ध में जितना उल्लेख अभिनव ने किया है उतनी ही शब्दावली शेष रह गई है।

---

(1) कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः। पाणिनी ५. ४. ५०

आचार्य भरत ने नाटक में ही रस की स्थिति स्वीकार की थी, 'नाट्येऽष्टौ रसाः' । स्मृता': । परन्तु रुद्रभट्ट ने काव्य में भी रस की स्थिति स्वीकार की । अब काव्य और नाटक में निर्विवाद रूप से रस-स्थिति मान्य है । नाटक और काव्य से व्यञ्जित रस का आस्वादन सहृदय सामाजिक अथवा पाठक ही करता है, यह सिद्धान्त भी निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार हो चुका है । रस का आस्वादन भी ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है । किन्तु विशिष्ट-व्यक्तित्व सम्पन्न काव्य-निबद्ध पात्रों के विशिष्ट रत्यादिक भावों की रसानुभूति अपनी विभिन्न विशेषताओं में आबद्ध सहृदय को किस प्रकार होती है, यह समस्या व्याख्याकारों के सम्मुख खड़ी हुई । इस समस्या में अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुईं उनमें से कतिपय का संक्षिप्त उल्लेख आगे किया जाता है ।

काव्य में जिन राम दुष्यन्तादि पात्रों का निबन्धन होता है वे विशिष्ट-व्यक्तित्व से सम्पन्न चित्रित होते हैं । पाठक अथवा सामाजिक के बोध-पथ में विशेष व्यक्ति का ही बिम्ब आता है सामान्य का नहीं । जब तक उनका यह वैशिष्टय है तब तक पाठक अथवा सामाजिक एवं चित्रित पात्रों के बीच व्यवधान बना रहेगा और सहृदय लौकिक स्थिति से ऊपर न उठ पावेगा और वह काव्य की आनन्दमयी रसानुभूति न कर सकेगा । रसानुभूति के लिए सहृदय का भी अपनी राग-द्वेष युक्त चेतना से मुक्त होना अनिवार्य है ।

राम और सीता में सर्व साधारण की श्रद्धा एवं पूज्य-भावना बद्धमूल है । भारत की जनता राम में भगवान् की श्रद्धा रखती है और माता सीता में जगज्जननी की पूज्य-भावना । यदि काव्य-निबद्ध राम काव्य-निबद्ध सीता के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं, जैसा कि तुलसी-कृत रामायण में वाटिका-प्रसंग प्रकट हुआ है तो पाठक राम-सीता के विशिष्ट व्यक्तित्व के रहते हुए उस राग का अनुभव नहीं कर सकते, उनकी श्रद्धा एवं पूज्यबुद्धि उसमें बाधा उपस्थित करेगी । इस समस्या का समाधान किये बिना भारतीय पूज्यबुद्धि से संस्कृत हृदय रसानुभूति स्वीकार नहीं कर सकता ।

सामाजिक अथवा पाठक की चेतना भी अपने मोह-कलिल से ग्रस्त रहती है । यदि उपर्युक्त बाधाओं का समाधान मिल भी जाय तो इस कठिनाई का भी समाधान भी खोजना पड़ेगा । इस प्रकार मोटे रूप से ये तीन कठिनाइयाँ ऐसी थीं जिनका समाधान खोजने की व्याख्याकारों की आवश्यकता प्रतीत हुई ।

(४) रस-सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्ट नायक ने रसानुभूति के सम्बन्ध में उपर्युक्त कठिनाइयों को दूर करने के अभिप्राय से 'साधारणीकरण' व्यापार की कल्पना की । उन्होंने जिस ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया था वह अप्राप्य है; परन्तु उनके सिद्धान्त का उल्लेख अभिनव और मम्मट ने किया है । भट्टनायक को 'साधारणीकरण' का कौन-सा स्वरूप अभीष्ट था, इसका उल्लेख उन्हीं के शब्दों में नीचे दिया जाता है :

'तस्मात्काव्ये दोष भाव गुणालङ्कार मयत्व-लक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनय रूपेण,

निविड-निजमोह संकट कारिण, विभावादि साधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनाशेन भावकत्व-व्यापारेण भावयमानो रसः भोगेन परं भुज्यत इति ।

भावकत्व व्यापार के स्वरूप के अन्तर्गत ही 'साधारणीकरण' का उल्लेख किया है। यह साधारणीकरण ही भावकत्व व्यापार की आत्मा है अर्थात् भावकत्व का वास्तविक स्वरूप साधारणीकरण ही है । गोविन्द ठाकुर ने दोनों को एक दूसरे का पर्याय माना है । भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यभान स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होता है । विद्वानों ने भाव्य-भान' पद की व्याख्या 'साधारणी क्रियमाण' से की है । किन्तु यह विषयगत साधारणीकरण है । इस भावकत्व अथवा साधारणीकरण की विशेषताओं को निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है :

(१) काव्य में दोषों का सर्वथा अभाव और गुण एवं अलंकारों का सद्भाव ही उसका लक्षण है और नाटक में वह आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य-चतुर्विधाभिनय रूप है। अर्थात् जो काव्य काव्य दोषविहीन एवं गुणालंकार युक्त होगा उसी काव्य में और जो नाटक चारों प्रकार के उत्कृष्ट अभिनय से मुक्त होगा उसी नाटक में साधारणीकरण व्यापार को उत्पन्न करने की शक्ति होगी ।

(२) इसी व्यापार से काव्य में पाठक और नाटक में सामाजिक के निविड़ (रुधन, गहन) मोह का विनाश होता है ।

(३) काव्य निबन्धित तथा नाटक में प्रदर्शित विभावादि का भी साधारणींकरण होता है ।

साधारणीकरण को उत्पन्न करने की शक्ति उपरिलिखित विशेषताओं से युक्त काव्य अथवा नाटक में ही रहता है । जिस काव्य अथवा नाटक में उपर्युक्त विशेषतायें न होंगी उससे साधारणीकरण उत्पन्न न हो सकेगा । फलतः उल्लिखित विशेषता-विशिष्ट काव्य अथवा नाटक साधारणीकरण के आधार सिद्ध हुईं । यह प्रथम अनिवार्यता सिद्ध हुई । साधारणी-करण उत्पन्न होकर दो फल प्रदान करता है : एक विषयिगत और दूसरा विषयगत । व्यक्ति-निष्ठ सघन मोह का विनाश उसका विषयिगत फल है और विभावादि का साधारणीकरण उसका विषयगत फल इस प्रकार आचार्य भट्टनायक ने साधरणीकरण की उत्पत्ति का कारण दिखा कर उत्पन्न साधारणीकरण के फलों का भी उल्लेख कर दिया है ।

विषयिगत साधारणीकरण—मनुष्य का जीवन अनेक अभावों एवं कठिनाइयों से परिपूर्ण होने कारण विषम है । इन आभावों से उसकी चेतना भी मलिन हो जाती है और मन चंचल । चेतना की यह मलिनता मोह कहलाती है । मोहग्रस्त व्यक्ति का मन चंचल और बुद्धि सत्य का दर्शन करने में असमर्थ रहती है । यह सर्वमान्य सत्य है कि जब तक व्यक्ति की बुद्धि निर्मल और मन सात्विक नहीं होता वह काव्यार्थ की रसात्मक अनुभूति करने में असमर्थ रहता है । इसलिए यदि पाठक अथवा सामाजिक को रसानुभूति करनी है तो उसके मोह का नाश—क्षणमात्र के लिए ही अवश्य होना चाहिए । भावकत्व अथवा

साधारणीकरण की शक्ति व्यक्ति के मोह को नष्ट कर देती है और उसका हृदय मुक्त होकर सहजावस्था को प्राप्त हो जाता है। आचार्य शुक्ल हृदय की इस मुक्तावस्था को ही रस-दशा स्वीकार करते हैं।

अतएव भट्टनायक के मतानुसार साधारणीकरण की प्रक्रिया पाठक अथवा सामाजिक के हृदय को मोह मुक्त करती है। विषयगत साधारणीकरण—काव्य ही वह विषय है जिससे पाठक अथवा सामाजिक को रसानुभूति होती है। काव्य की वस्तु में रस के विभिन्न अंग आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव आदि का चित्रण होता है। यही रस-निष्पत्ति की शास्त्रीय सामग्री है। परन्तु काव्य-निबद्ध आश्रय और आलम्बन सामान्य न हो कर विशेष होते हैं। स्थायीभाव अनुभाव और संचारी भा। का सम्बन्ध इन्हीं विशिष्ट पात्रों से होता है, इसलिए काव्यचित्रित अनुभाव आदि का विशिष्ट ही माने जायेंगे। जब तक इनके विशिष्ट्य का तिरोभाव न होगा अपने-अपने विशिष्ठ सम्बन्धों से मुक्त न हो-गेंजब तक रस-निष्पत्ति न होगी और पाठक आस्वादन न कर सकेगा।

आचार्य भट्टनायक ने विभावादि साधारणीकरणीत्मना पद का प्रयोग किया है। 'विभावादि का नामो उल्लेख और उनके विशिष्ट सम्बन्ध-युक्त होने की बात ऊपर कही जा चुकी है। आचार्य शक्ल आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं और डा० नगेन्द्र कवि की अनुभूति का।

जैसा कि उपर कहा जा चुका है विभावदि में आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी की गणना होतो है यहाँ काव्य निवद्र आश्रय की दृष्टि से विभावादि का परिचय नहीं दिया जा रहा है अपितु पाठक अथवा सामाजिक की दृष्टि से। पाठक की दृष्टि से रस के सभी अंग विभाव का रूप धारण कर लेते हैं। ये सभी अंग तीन भागों में विभक्त हैं: आश्रय तथा आश्रय से सम्बद्ध, आलम्बन तथा आलम्बन से सम्बद्ध, इन दोनों से भिन्न प्रकृतिगत। लोक और तदानुसार काव्य में भी इन तीनों की सत्ता एक दूसरे से अलग और निरपेक्ष हैं। इसलिए आलम्बनत्व धर्म में आश्रय धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यदि उसे आलम्बनत्व धर्म के अन्तर्गत स्वीकार भी कर लें तो भी आपति समाप्त नहीं होती। आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण का लक्षण इस प्रकार दिया है जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। विषय का इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कवि अथवा नाटककार जिन पात्रों का आश्रय एवं आलम्बन रूप में चित्रण करता है उनमें धर्म का सन्निवेश करता है। मोटे रूप में शुक्ल जी का साधारणीकरण यही है। इसमें स्थायी भाव और सामाजिक की चेतना की ओर ध्यान नहीं दिया है।

डा० नगेन्द्र कवि की अनुभूति का साधारणीकरण स्वीकारते हैं। भट्ट तोत ने 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः स्वीकार किया है। डा० नगेन्द्र ने भट्ट तौत की मान्यता को अपने शब्दों में रखने की चेष्टा की है। इस मत के सम्बन्ध में अनेक आक्षेप

किये गये हैं। जिनमें प्रबलतम ये हैं। यह स्थापना भट्टनायक और अभिनव से भिन्न है। दूसरे पाठक में रसात्मक अनुभूति आदि यदि जाग्रत होती है तो वह काव्य-निबद्ध पात्रों के वैशिष्ट्य के तिरोहित होने के पश्चात् ही हो सकेगी अर्थात् अनुभूति का जागरण और उसका रस रूप में आस्वादन साधारणीकरण का फल है उसका कारण नहीं।

डा० नगेन्द्र ने भट्टनायक के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है :— साधारणी करण वास्तव में सर्वांग का ही होता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास वर्णित 'वाटिका-प्रसंग' में आश्रय राम, आलम्बन सीता, आश्रय की चेष्टा में-अनुभाव, जनक वाटिका का रमणीक वातावरण- उद्दीपन, राम के मन में संचरण करने वाले हर्ष, गति आदि भाव सभी का साधारणीकरण हो जाता है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण प्रसंग ही, विशिष्ट देशकाल बद्ध घटना न रहकर, साधारण हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप प्रमाता की चेतना भी व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होकर सामान्य हो जाती है"।

भट्टनायक ने भावकत्व और साधारणीकरण के प्रसंग में स्थायीभाव का उल्लेख नहीं किया है। परवर्ती आचार्य अभिनव गुप्त के द्वारा भट्टनायक के साधारणीकरण को तो मान्यता मिली, किन्तु थोड़े संशोधन के साथ। उनके अनुसार स्थायी भाव भी देशकाल आदि से पूर्णतः अनालिङ्कित (असम्बद्ध) प्रतीत होता है। अभिनव का अभिप्राय यह है कि आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भी देशकाल के बन्धन सपूर्णतः मुक्त हो जाता है। यही स्थायी का साधारणीकरण है। लोक में जिस प्रकार विभावादि स्थायीभाव के जागरण के हेतु होते हैं उसी प्रकार उनका साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण हो सकता है। साधारणी कृत स्थायी देशकाल और व्यक्ति संसग से मुक्त हो जाता है। व्यक्ति-चेतना से सम्बद्ध भाव की अनुभूति में सुख-दुखात्मकता का समावेश रहता है। स्थायी का साधारणी-करण हो जाने के पश्चात् ऐन्द्रिय सुखदुखात्मकता समाप्त हो जाता है। अभिनव ने इसी संक्षिप्त परिवर्द्धन के साथ भट्टनायक के साधारणीकरण से ग्रहण कर लिया।

परवर्ती संस्कृत आचार्यों ने साधारणीकरण के इस संशोधित रूप को ग्रहण किया। इसमें केवल विश्वनाथ एवं पण्डित राज के विवेचन में कुछ भिन्नता के संकेत मिलते हैं। विश्वनाथ ने अभिनव की अपेक्षा आश्रय (काव्य-निबद्ध) के साथ प्रमाता (पाठक अथवा सामाजिक) के अभेद तादातमय को विशेष महत्व दिया है (प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते)। अर्थात् साधारणीकरण के प्रभाव से पाठक अथवा सामाजिक सामान्य आश्रय के साथ ही नहीं अपितु आलौकिक शक्ति सम्पन्न पात्रों के साथ भी तादात्म्य हो जाता है। परन्तु आश्रय के साथ प्रमाता को तादात्म्य की मान्यता सर्वांग शुद्ध नहीं है। इसमें भी कुछ सटीक विप्रत्तिपत्तियाँ खड़ी की जा सकती हैं।

पंडित राज भी विश्वनाथ के तादात्म्य को प्रकारान्तर से स्वीकार करते से जान पड़ते हैं। वह नव्यन्याय के मानने वाले थे। उन्होंने भावना दोष की महिमा से आश्रय और

प्रमाता को तादात्म्य स्वीकार किया है। वह साधारणीकरण को स्पष्ट मान्यता प्रदान नहीं करते हैं।

उनके कथन को इस प्रकार रखा जा सकता है : काव्य में कवि और नाटक में नट विभावादि का प्रकाशन करता है। इसके पश्चात् व्यंजना व्यापार द्वारा पाठक अथवा सामाजिक को यह प्रतीति होती है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इस प्रतीति के उपरान्त सहृदय में एक भावना विशेष दोष जाग्रत होता है जिससे उसकी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित हो जाती है अर्थात् प्रमोतम दुष्यन्त के साथ तादात्म्य अनुभव करने लगता है। स्वयं को दुष्यन्त समझने के पश्चात् शकुन्तला का प्रेमी समझना भी उपपन्न हो जाता है। इसी भावना दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आछन्न आत्मा में कल्पित शकुन्तलादि विषयत्व में रति भी भाषित होने लगती है। आत्मा में रति का यह आभास सीपी में चाँदी के समान होता है।

आत्मा को सीपी में चाँदी का आभास भ्रम के अथवा अज्ञान के कारण होता है। अतएव पण्डित राज के मत में स्थायी भाव का भ्रमवत् आभास होता है। पंडित राज का विवेचन जिस प्रकार बौद्धिक है उसी प्रकार (रसानुभूति भी) भाव की अनुभूति बौद्धिक स्तर पर नहीं होती है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों रस-निष्पत्ति प्रसंग को इस प्रकार छोड़ दिया जैसे काव्यशास्त्र से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो। इसका थोड़ा-सा उल्लेख प्रतापसाहि ने किया है वह भी अत्यन्त भ्रमपूर्ण हैं।

आधुनिक काल में साधारणीकरण प्रसंग को आचार्य शुक्ल ने उठाया और उसकी स्वतंत्र स्थापना की जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है। पं० केशवप्रसाद मिश्र अभिनव का ही पूर्ण समर्थन किया है। डा० श्यामसुन्दर दास ने 'मधुवती भूमिका के रूप में हृदय की मुक्तावस्था का उल्लेख किया है। भट्टनायक और अभिनव के अभिमतों के विवेचन से साहित्यालोचन में उल्लिखित मत की तुलना करने पर साहित्यालोचन का मत अपूर्ण-सा जान पड़ता है।

साधारणीकरण के प्रसंग में डा० नगेन्द्र की स्थापना स्पष्टतः अलग है। पीछे उसका भी प्रसंगतः उल्लेख हो चुका है। रस-निष्पत्ति प्रसंग में साधारणी करण की मान्यता अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रसंग है।

६ काव्य के गुण दोष

डा० अरविन्द कुमार देसाई

काव्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है, इसे भारतीय और पाश्चात्य सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं, फिर भी काव्य की परिभाषा के क्षेत्र में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। भारतीय आचार्यों ने रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य जैसे विभिन्न संप्रदायों की स्थापना करके अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। पाश्चात्य विचारकों ने भी इसे 'युगकी चेतना', 'जीवन की व्याख्या', समाज का जीवन,' 'अन्तस् का स्फुरण' और 'समाज का दर्पण' आदि विभिन्न शब्दों से अभिव्यक्त किया है। इस विभिन्नता में भी प्रायः सभी ने काव्य के लिए व्यक्तिगत अनुभूति, विचार, कल्पना एवं शैली का महत्त्व स्वीकार किया है। शैली का संबन्ध व्यक्तिगत अभिरुचिके साथ होने के कारण उसमें रुचिभेद से गुण और दोष का रह जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसीलिए भारतीय काव्य शास्त्र में अतिप्राचीन काल से गुण-दोष का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। अग्निपुराणकार ने "यःकाव्ये महतीं-छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः" कहकर गुण के महत्व को स्वीकार किया है। तत्पश्चात् भरतमुनिने अपने नाट्यशास्त्र में गुण को भावात्मक न मानकर निषेधात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है। वे काव्य के दोषों का वर्णन करने के बाद लिखते हैं—

गुणा विपर्ययादेषां माधुर्योदार्यलक्षणाः।
अत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषुकीर्तिताः ॥

यहाँ विपर्यय का अर्थ अभाव है। अर्थात् दोषों के अभाव को ही गुण कहा गया है। परन्तु काव्य के सभी गुण अभावात्मक ही हैं, यह मानना उचित नहीं है। काव्य शास्त्र में रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन ने अपने काव्यालंकार सूत्र में लिखा है, "विशिष्टा पद-रचना रीतिः" और "विशेषो गुणात्मा" अर्थात् विशेष प्रकार के गुणों से युक्त पदरचना को रीति कहते हैं। तत्पश्चात् दंडी, भामह, कुन्तक और उद्भट आदि आचार्यों ने काव्य में गुण के महत्त्व को स्वीकार किया है, अतः काव्यशास्त्र के इतिहास में ये सब "गुणसम्प्रदायवादी भी कहलाते हैं। वाग्देवता के अवतार रूप माने जाने वाले मम्मट ने काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृत्ति क्वापि" अर्थात् सगुण और क्वचित् अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। वाग्भट, हेमचन्द्र, विद्यानाथ और भोज ने भी काव्य में दोषराहित्य और सगुणता को अनिवार्य माना है। अतः भारतीय

काव्य शास्त्र में आरंभ से अद्यावधि पर्यन्त गुण और दोष का विवेचन होता आया है ।

अनेक शताब्दियों तक गुण और अलंकार में कोई मौलिक भेद नहीं माना गया था, क्योंकि आचार्य दण्डीने गुण विषयक परिभाषा को ही ज्यों का त्यों अलंकार में घटित कर दिया था । आचार्य वामन ने सर्वप्रथम इन दोनों के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा, "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।" अर्थात् काव्य की शोभा करने वाले धर्म गुण है और अधिक उत्कर्ष देनेवाले अलंकार हैं । बाद में आनन्दवर्धन तथा उनके अनुगामी आचार्यों ने भी गुण और अलंकार के भेद को स्पष्ट करते हुए गुण को अंगी-रसका धर्म और अलंकार को अंग या शब्दार्थ के उत्कर्ष का हेतु कहकर अलंकार को गुण की अपेक्षा गौण माना है । अलंकार काव्य के बाह्य अंग होते हैं, किन्तु गुण काव्य के बाह्य अंगों के साथ संबन्धित होते हुए भी द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्तिओं के तद्रूप होने से अंतरंग होते हैं । साथ ही अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं, जब कि गुण को नित्यधर्म कहा गया है । काव्य में रस की भांति गुण व्यंग्य होते हैं, किन्तु अलंकार बहुधा वाच्य होते हैं । इस प्रकार काव्य में गुण का स्थान निर्धारित करते हुए कहा जा सकता है कि अलंकार की अपेक्षा गुण का काव्य के अन्ततंत्व के साथ अधिक संबन्ध रहता है । इसीलिए मम्मट जहाँ 'सगुणी' शब्द का प्रयोग निश्चितार्थ में करते हैं वहाँ अलंकार के लिए "अनलंकृति पुनःक्वापि" कहकर संतोष मान लेते हैं ।

गुणों की संख्या के संबन्ध में भी काव्य । शास्त्र में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है । अग्निपुराण में ६ शब्दगुण, ६ अर्थगुण और ६ उभयगुणों का वर्णन किया गया है । भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में निम्नलिखित दस गुणों का उल्लेख किया है—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशोते ।।

भरतमुनि के मतानुसार नाट्य और काव्य में मूल तत्व तो रस ही होता है, किन्तु गुण नाटक के वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाते हैं । वाचिक अभिनय रसाधीन होने से गुण भी रसाधीन ही होते हैं । अर्थात् गुण काव्य-भाषा को समृद्ध करप्र वाले तत्व हैं । आचार्य दण्डी भी काव्य के दस ही गुणों का वर्णन करते हैं और उन्हें सौन्दर्य विधायक तत्व के रूप में अलंकार का ही एक भाग मानते हैं । उनके अनुसार ये दस गुण निम्न हैं—-

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता ,
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ।।

आचार्य वामन भी इन्हीं दस गुणों का वर्णन करते हुए इनके दो-दो भेद शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में दिखाते हैं । अतः उनके मतानुसार दोनों प्रकार के भेद मिलाकर कुल २० गुण होते है । अपने ग्रंथ में उन्होंने इनका सविस्तार वर्णन किय है और काव्य-शास्त्र के

इतिहास में गुणसंप्रदायवाद के प्रमुख आचार्य होने के कारण उनके द्वारा बताये गये इन गुणों को संक्षेप में देख लेना अनुचित न होगा। उनके मतानुसार—

शब्दगुण—(१) ओजस्—गाढ़बन्धत्व या समास बहुला पदरचना। (२) प्रसाद—शिथिलता। (३) श्लेष-मसृणता। (४) समता-मार्ग अभेद अर्थात् जिस मार्ग से आरंभ किया हो वही मार्ग अन्ततक चालू रखना। (५) समाधि-आरोह-अवरोह का क्रम। (६) माधुर्य-पृथक् पदत्व या शब्दों का पार्थक्य। (७) सौकुमार्य-कोमलता या अजरठत्व। (८) उदारत्व-शब्दों का जीवन्तपना। (९) अर्थव्यक्ति-सरलता से अर्थप्रतीति। (१०) कान्ति-शब्दों का औज्ज्वल्य।

अर्थगुण—(१) ओजस्-अर्थकी प्रौढ़ता। (२) प्रसाद-अर्थकी विमलता। (३) श्लेष-अनेक विचारों का गठन। (४) समता-विचारों का योग्य क्रम। (५) समाधि-एकाग्रता से मुख्यार्थ का ग्रहण। (६) माधुर्य-उक्तिवैचित्र्य। (७) सौकुमार्य-कठोर विचार का अभाव। (८) उदारत्व-ग्राम्यत्व का अभाव। (९) अर्थव्यक्ति-भाव या विचारों की स्वाभाविक स्पष्टता। (१०) कान्ति-रस की प्रधानता।

आचार्य वामन इन गुणों के स्वरूप के विषय में अपने पूर्ववर्ती आचार्य भरत और दण्डी से अनेक बातों में भिन्न मत प्रदर्शित करते हैं। वामन का ओजस्, दण्डी का श्लेष है और दंडी का माधुर्य वामन के माधुर्य एवं उदारत्व का मिश्रण है। भरतमुनि गुणको रसाधीन मानते हैं, जबकि वामन का कथन है कि गुण रसाश्रित नहीं हैं, किन्तु रस अर्थगुण कान्ति का अंग होने से रस ही गुणाश्रित हैं अर्थात् अंगभूत हैं। इनके बाद के आचार्यों में से भोजने गुणों की संख्या २४ बताई है और फिर इन सबके बाह्यगुण (शब्दगुण), आभ्यन्तरगुण (अर्थगुण) तथा वैशेषिकगुण (जो सामान्यरूप में दोष हैं किन्तु विशेष सन्दर्भ में गुण बन जाते हैं)। इस प्रकार कुल मिलाकर ७२ गुणों का वर्णन किया है। आचार्य कुन्तक ने कवि स्वभाव को प्रमाणभूत मानकर सुकुमार, विचित्र और मध्यम तीन मार्गों का उल्लेख किया है और इन तीनों के दो सामान्य तथा चार विशेषगुण बताये हैं। इस प्रकार इन्होंने भी १८ गुणों का वर्णन किया है।

काव्यशास्त्र में इस भाँति बढ़ती हुई गुणों की संख्या पर गंभीरता एवं सूक्ष्मता से विचारने का कार्य आनन्दवर्धन और आचार्य मम्मट ने किया। इन दोनों ने ही गुणों को रसाश्रित माना है। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में लिखा है, "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनंते गुणाः स्मृताः।" इसी भाव को अधिक स्पष्ट करते हुए मम्मट ने काव्य प्रकाश में लिखा है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

अर्थात् जिस प्रकार आत्मा में शौर्यादि गुण होते हैं, उसी प्रकार अंगी-रस के धर्म गुण उसके उत्कर्ष के कारण होते हैं और वे अचलस्थिति या नित्य होते हैं। मम्मटादि आचार्य

तीन ही प्रमुख गुण मानते हैं—(१) माधुर्य, (२) ओजस् और (३) प्रसाद। इन तीनों गुणों की विस्तृत व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य में गुण, शब्द और अर्थ का चमत्कार मात्र नहीं है, किन्तु चित्त की वृत्ति विशेष है। जिसके द्वारा चित्त द्रवीभूत (द्रुतिकारणम्) होता है वह काव्य का माधुर्य गुण है। जिसमें चित्त की दीप्ति, आत्मविस्मृति या चित्तको विस्तृत बनाने वाली दीप्तिमय स्थिति सर्जन करने की शक्ति होती है, वह ओजस् गुण है। सर्वत्र सरलता से प्रसृत होनेवाली चित्तकी स्थिति प्रसाद गुण कहलाती है। उन्होंने संयोग और विप्रलंभ शृंगार, करुण तथा शान्तरस में माधुर्य को आवश्यक माना है। वीर, वीभत्स और रौद्ररस में ओजस् की अनिवार्यता स्वीकारी है तथा सभी रसों में प्रसाद गुण की स्थिति को माना है। इनके बाद आने वाले प्रायः सभी संस्कृत और हिन्दी के काव्यशास्त्रियों ने इन्हीं तीन गुणों का वर्णन किया है। यहाँ इन्हीं तीनों गुणों का हम सोदाहरण वर्णन करेंगे।

(१) माधुर्य—माधुर्य का अर्थ भरतमुनि ने श्रुतिमधुरता माना है। दण्डी ने रसमयता या सरसता बताया है। वामन पदों की पृथकता या समासरहितता को माधुर्य कहते हैं। आनन्दवर्धन के मतानुसार यह सहृदयों को द्रवित करने वाला है। मम्मट इसे आह्लादक तथा चित्त को द्रवित करने की विशेषता वाला गुण मानते हैं। उनके अनुसार इसमें टवर्ग रहित शब्द हों, ह्रस्व स्वरों के बीच में र, ण अक्षर न आते हों, सामासिक पद अत्यल्प हों तो वह माधुर्यगुणयुक्त शब्द रचना कही जाती है। इस प्रकार इसमें कोमल वर्णों का प्रयोग, समासरहितता अथवा अल्पसामासिकता, करुण, शान्त या शृंगार रस का वर्णन होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की निम्नलिखित शब्दावली में माधुर्यगुण के दर्शन किये जा सकते हैं—

वर दंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिनमाल अमोलन की।।
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करैं 'तुलसी' बलि जाऊँ लला इन बोलन की।।

(२) ओजस्—ओज शब्द का अर्थ होता है तेज, प्रताप और दीप्ति। अर्थात् जिस काव्य को सुनते ही श्रोता के चित्त में उत्साह, वीरता, आवेश आदि भाव जागृत हो जाते हैं, उसे ओज गुण कहते हैं। भरतमुनि के अनुसार इसमें समस्तपदावली, अर्थगाम्भीर्य और श्रवणसुखदशैली का प्रयोग रहता है। दण्डी के मतानुसार समासयुक्त पदों से ओज गुण संपन्न होता है। वामन के विचारानुसार रचना का गाढ़बन्धत्व तथा संयुक्ताक्षरों का प्रयोग इसमें आवश्यक है। मम्मट का कहना है कि इसमें संयुक्त वर्ण, द्वित्व-अक्षर, सामासिक पदों की विकट रचना और क्लिष्ट वर्ण संघटन का प्रयोग रहता है। इस प्रकार इसमें कठोर और संयुक्त वर्णों का प्रयोग, सामासिक पदरचना, विकट तथा क्लिष्ट संघटना आदि का प्रयोग आवश्यक माना गया है। 'कवितावली' के लंका-काण्ड का निम्नलिखित छन्द ओज गुण का उदाहरण है—

कतहुं बिटप भूधर उपरि पर सेन बरक्खत ।
कतहुं बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत ।।
चरन चोट चटकन चकोर अरि उर सिर बज्जत ।
विकट कटक बिछ्ररत बीर बारिद जिमि गज्जत ।।
लंगूर लपेटत पटकि भट जयति राम जय उच्चरत ।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत ।।

(३) **प्रसाद**—प्रसाद का शब्दार्थ होता है प्रसन्नता या विकसित होना । भरतमुनि के अनुसार सहजग्रह्यता प्रसाद गुण की प्रधान विशेषता है । दण्डी के मतानुसार इसमें प्रसिद्ध अर्थवाले शब्दों का प्रयोग ही होना चाहिए । वामन इसमें अर्थकी शिथिलता को अनिवार्य मानते हैं । मम्मट का कथन है कि जैसे सूखे इन्धन में अग्नि और स्वच्छ वस्त्र में जल तुरंत फैल जाता है, उसी प्रकार जो चित्त को रस और रचना में तुरन्त लीन कर देता है वह प्रसाद गुण है । इस प्रकार इसमें कुछ कोमल एवं कुछ कठोर वर्णों का समन्वय रहता है, अल्पसामसिकता तथा सरल पदरचना की स्थिति रहती है । उदाहरण के रूप में गोस्वामीजी के ही निम्न छन्द को देखा जा सकता है—

पुर तें निकसी रघुवीर वधू धरि धीर दए मग में डग द्वै ।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गए मधुराधर वै ।।
फिर बूझति है चलनो अब केतिक पर्णकुटी करिहौ कित्त ह्वै ।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारू चलीं जल च्वै ।।

हिन्दी के रीतिकालीन एवं आधुनिक युग के प्रायः सभी आचार्यों ने मम्मट और विश्वनाथ का अनुसरण करते हुए तीन गुणों का ही वर्णन किया है । आचार्य देवने मम्मट से पहले के आचार्यों के मतका आधार लेकर दस गुणों में यमक और अनुप्रास को मिलाकर बाहर गुणों का वर्णन किया है आधुनिक युग में कन्हैयालाल पोद्दार और रामदहिन मिश्रने भी परंपराका पालन करते हुए तीन ही गुणों का उल्लेख किया है । वर्तमानकाल के आचार्यों का मंतव्य है कि काव्य में गुणव्यंजक पदावली की अनिवार्यता को न मानकर विशिष्ट रसके अनुकूल चित्तवृत्ति यदि उत्पन्न हो सके तो हमें उससे ही काम चला लेना चाहिए ।

[२]

भारतीय काव्य शास्त्र में गुणों की भाँति प्रारंभ से ही दोषों का विवेचन भी देखने को मिलता है । सामान्य रूप से काव्य के अर्थ को समझने में बाधा पहुंचाने वाले तत्त्व दोष कहलाते हैं । काव्य में दोष की स्थितिका प्रधान कारण कवि की असमर्थता को ही माना गया है । काव्यशास्त्र के अनेक विषयों में परस्पर मतभेद होते हुए भी 'काव्य को निर्दोष होना चाहिए' इस सम्बन्ध में सभी आचार्य एक मत हैं । आचार्य दण्डी का कहना है, "स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।" अर्थात् सुन्दर शरीर भी कुष्ट के एक धब्बे से असुन्दर हो जाता है, उसी प्रकार हृदयग्राही काव्य भी एक छोटे से दोष से अकिंचित्कर बन जाता है । इसीलिए काव्य का दोषरहित होना अनिवार्य माना गया है ।

अग्निपुराणकारने दोषों को उद्वेगजनक बताते हुए (उद्वेग जनको दोषः।) उनके परिहार को आवश्यक माना है। भरतमुनिने दोष को भावात्मक कहकर गुण को उनका विपर्यय माना है। दण्डी ने दोष को काव्य के लिए विपत्ति रूप बताया है (दोषा विपत्तये तत्र।) और उससे बचने का आग्रह किया है। वामन ने प्रथम दोषों का निरूपण करने के बाद दोष रहितता को ही महान् गुण बताया है (महान् निर्दोषता गुणः।) फिर वे कहते हैं, "गुण विपर्ययात्मनो दोषः" अर्थात् गुण का विपर्यय ही दोष है। मम्मट काव्य में मुख्यार्थ का अपकर्ष करने वाले तत्व को दोष मानते हैं (मुख्यार्थहतिर्दोषः।) विश्वनाथ भी "दोषा-स्तस्यापकर्षकाः" कहकर रसको हानि पहुंचाने वाले तत्वों को ही दोष मानते हैं। उनके अनुसार काव्य में रस की हानि तीन प्रकार से होती है—(१) रसकी प्रतीति में विलंब से, (२) रस-प्रतीति में अवरोध से और (३) रस-प्रतीति में पूर्ण विघात से। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन और आधुनिक युग के काव्यशास्त्रियों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र के आधार पर ही दोषों के स्वरूप का वर्णन किया है।

दोषों की संख्या के संबन्ध में काव्यशास्त्रकारों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। अग्निपुराण में तीन ही प्रमुख दोषों का वर्णन किया गया है। भरतमुनिने नाट्यशास्त्र में दस दोषों का उल्लेख किया है। दण्डी ग्यारह दोषों का वर्णन आचार्य वामन ने दोषों का विस्तृत वर्णन करते हुए उन्हें शब्दगत और अर्थगत नाम से दो भागों में विभक्त किया है। शब्दगत के पुनः पदगत, पदार्थगत और वाक्यगत तथा अर्थगत के पदार्थगत और वाक्यार्थगत भेद वर्णित किये हैं। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में दोषों का अतिविस्तार से वर्णन किया है। प्रथम वे काव्य दोषों के तीन प्रमुख भेद बताते हैं और फिर (१) शब्द दोष के ३७ भेद, (२) अर्थदोष के २३ भेद और (३) रसदोष के १० भेद बताकर कुल ७० दोषों का निरूपण करते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का दोषवर्णन मम्मट पर ही आधारित है। हिन्दी के आचार्यों ने भी मम्मट का ही अनुसरण किया है। वर्तमानयुग के आलोचकों का भी मानना है कि रसयुक्त काव्य में रस की तथा रसरहित काव्य में अर्थ की उचित प्रतीति में बाधक वस्तु दोषरूप होती है। इसके कारण कभी रस या अर्थग्रहण में विलंब हो जाता है, कभी काव्य में चमत्कारिता का विघात होता है तो कभी अर्थप्रतीति सर्वथा असंभव हो जाती है, अतः कवि को दोष से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

उपरोक्त सभी दोषों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत न होने के कारण हम उनका उल्लेखमात्र करके उनमें से कुछ प्रमुख दोषों का सोदाहरण वर्णन करेंगे।

शब्ददोष—१. श्रुतिकटुत्व, २. च्युतसंस्कार (लिंगदोष, वचनदोष, कारकदोष, सन्धिदोष, प्रत्ययदोष आदि), ३. अप्रयुक्त, ४. असमर्थ, ५. निहितार्थ, ६. अनुचितार्थ, ७. निरर्थक, ८. अवाचक, ९. अश्लील, १०. ग्राम्य, ११. नेयार्थ, १२. क्लिष्ट, १३. संदिग्ध; १४. अप्रतीति, १५. अविमृष्ट विधेयांश, १६. विरुद्धमतिक्रम, १७. प्रतिकूल-वर्ण, १८. हतवृत्त १९. न्यूनपद, २०. अधिकपद, २१. व्यर्थपदता, २२ कथितपद, २३.

अस्थानपदता, २४. पतत्प्रकर्ष, २५. समाप्तपुनरुक्ति, २६. अर्द्धान्तान्तरैकवाचक, २७. अभवन्मतसंबद्ध, २८. अनभिहितसंबन्ध, २६. संकीर्ण, ३०. गर्भित, ३१. प्रसिद्धित्याग, ३२. भग्नप्रक्रम, ३३. अक्रम, ३४. अमतपरार्थता, ३५. अन्वयदोष, ३६. क्रियादोष, ३७. मुहावरादोष ।

अर्थदोष—१. अपुष्ट, २. कष्टार्थ, ३. व्याहत, ४. पुनरुक्त, ५. दुष्क्रम, ६. ग्राम्य, ७. संदिग्ध, ८. निर्हेतु, ६. प्रसिद्धि विरुद्ध, १०. विद्याविरुद्ध, ११. अन्वीकृत, १२. साकांक्ष, १३. अपदयुक्त, १४. सहचरभिन्न, १५. प्रकाशित विरुद्ध, १६. नियुक्त पुनरुक्त, १७. अश्लील, १८. नियमपरिवृत्त, १६. अनियमपरिवृत्त, २०. विशेषपरिवृत्त, २१. सामान्यपरिवृत्त, २२. विधिअयुक्त, २३. अनुवादअयुक्त ।

रसदोष—१. स्वशब्दवाच्यत्व, २. कष्टकल्पना, ३. प्रतिकूलविभावादि, ४. पुनः पुनः रसदीप्ति, ५. अनवसर-रसवर्णन, ६. अनवसर-रसविच्छित्ति, ७. अंगभूतरसकी अतिवृद्धि, ८. अंगीरस की विस्मृत्ति, ६. प्रकृतिविपर्यय, १०. अमुख्यरस का वर्णन ।

शब्द दोषों को तीन भागों में विभक्त करके उन्हे (१) पदगतदोष, (२) पदांशगतदोष और (३) वाक्यगतदोष नाम दिया गया है । कुछ प्रमुख **शब्ददोष** निम्न हैं—

(१) **श्रुतिकटुत्वदोष**—काव्य में जहाँ कान को खटकने वाले, मनको उद्विग्न करनेवाले तथा रसास्वादन में विघातक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है उसे श्रुतिकटुत्व दोष कहते हैं । जैसे—

वार्तार्थ आया था यहाँ
कार्तार्थ्य पाकर जा रहा ।

यहाँ 'वार्तार्थ' और 'कार्तार्थ्य' के प्रयोग में श्रुतिकटुत्वदोष की स्पष्ट प्रतीति हो रही है ।

(२) **अश्लील**—अश्लील तीन प्रकार के होते हैं—(१) व्रीड़ाव्यंजक, (२) जुगुप्साव्यंजक और (३) अमंगलव्यंजक । गोष्ठी और सुरत-कार्य के प्रसंग में यह दोष क्षम्य भी माना गया है, फिर भी सुकवि को इससे बचकर ही रहना चाहिए । उदाहरणार्थ—

भग आपका है वह अतीव अपार
दानार्थ जो रहता सदा तैयार ।

यहाँ पर 'भग' शब्द ऐश्वर्य के अर्थ में आया है, किन्तु यह गुप्तांग का भी वाचक होने से व्रीड़ाव्यंजक अश्लील दोष से युक्त है ।

(३) **ग्राम्यदोष**—वहाँ होता है जहाँ काव्य में गँवारों के द्वारा बोले जाने वाले असाहित्यिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है । जैसे—

लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ ।

इसमें 'खुरपिया', 'छइवै' तथा 'छतरिया' आदि शब्द असाहित्यिक होने से ग्राम्यदोष आ गया है ।

(४) **क्लिष्टदोष**—जहाँ काव्य में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ कठिनता से स्पष्ट होता है वहाँ क्लिष्ट दोष होता है । हिन्दी में कबीर की उलटवासियाँ तथा सूरदास के कूटपद इसके उदाहरण हैं । एक अन्य उदाहरण देखिए—

हे कुख्यात कुविद कीर्ति तेरी है फैली
मूक आज वर्णन करने में है कवि शैली ।

यहाँ 'कुख्यात' का अर्थ कु—पृथ्वी उसमें ख्यात अर्थात् जगप्रसिद्ध है और 'कुविद' का अर्थ पृथ्वी का रक्षक है, किन्तु इन दोनों शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ क्रमशः 'बदनाम' और 'दर्जी' होता है । विवक्षित अर्थ कठिनाई से जाना जाता है अतः क्लिष्टदोष कहा जाएगा ।

(५) **अधिकपददोष**—वहाँ होता है जहाँ वाक्य में कोई शब्द अविवक्षित अथवा अनवाश्यक रूप से प्रयुक्त होता है । जैसे—

'राजा तब बोले वचन ।'

इसमें 'बोलना' क्रिया में ही वचन का अन्तर्भाव होने से यहाँ 'वचन' शब्द अनावश्यक है, अतः अधिकपद दोष है ।

अर्थदोष का संबन्ध शब्द की अपेक्षा उसके अर्थ से ही विशेष रहता है । आचार्य मम्मट के अनुसार शब्द दोष के निराकरण के उपरान्त भी जहाँ दोष बना रहता है वहाँ पर अर्थदोष कहलाता है । कुछ प्रमुख **अर्थदोष** निम्न हैं—

(१) **अपुष्टदोष**—वहाँ होता है जहाँ अर्थका बोध कराने के लिए प्रौढ़ उक्ति से काम न लिया गया हो । जैसे—

वितत व्योम में देख चन्द्र को
छोड़ो मानिनि ! मान ।

यहाँ विस्तृत आकाश का वर्णन मानत्याग के लिए प्रयोजक नहीं है और न ही यह कोई प्रौढ़ उक्ति है, अतः अपुष्टदोष है ।

(२) **पुनरुक्तदोष**—वह कहलाता है जहाँ एक शब्द के द्वारा किसी अर्थ विशेष का बोध हो जाने पर भी उसी अर्थवाले अन्य शब्दों का अर्थहीन प्रयोग किया गया हो । यथा—

मृदुबानी मीठी लगै
बात कविन की उक्ति ।

इसमें 'बानी' 'बात' और 'उक्ति' एक ही अर्थ के द्योतक होने से पुनरुक्त दोष है' ।

(३) **दुष्क्रमदोष**—वहाँ होता है जहाँ अर्थ-क्रम अनुचित ढंग से रखा गया हो अथवा जहाँ वह क्रम लोक या शास्त्र विरुद्ध हो । जैसे—

राजन् ! मुझे अश्व दो या
दंतावल ही दे दो महान् ।

यहाँ अर्थ-क्रम के अनुसार पहले हाथी (दंतावल) की याचना की जानी चाहिए और तब फिर घोड़े की, परन्तु अर्थक्रम अनुचित होने से दुष्क्रमदोष आ गया है ।

(४) **विद्याविरुद्धदोष**—जहाँ शास्त्र के विरुद्ध कोई बात कही जाती है वहाँ यह दोष होता है । जैसे—

मृगनयनी के अधर में
शोभित था नखचिह्न ।

इसमें अधर में नखक्षत का होना कामशास्त्र के विरुद्ध है, अतः विद्याविरुद्ध दोष कहा जायगा ।

(५) **सहचरभिन्न दोष**—वहाँ होता है जहाँ विवेक से वस्तुओं की संगति का ध्यान न रखा गया हो । यथा—

निसि ससि सों, जल कमल सों,
मूढ़ व्यसन सों मित्त ।

यहाँ रात्रि और चन्द्र तथा जल और कमल का जैसा उच्च संबन्ध होता है, वैसा मूढ़ और व्यसन में न होने के कारण सहचरभिन्न दोष है ।

रसको काव्य की आत्मा माना गया है । किसी काव्य में रसके आस्वाद में बाधा डालने वाले तत्वों को रस-दोष कहते हैं । रस विषयक कुछ दोष एक पद्य में न होकर काव्य या नाटक की रचना में हो सकते हैं । यहाँ कुछ प्रमुख **रस-दोषों** का परिचय कराया जा रहा है—

(१) **स्वशब्दवाच्य दोष**—आचार्यों के मतानुसार इसकी प्रतीति व्यंजना द्वारा होनी चाहिए । इसके विरुद्ध जहाँ पर अपने ही शब्द के द्वारा रस, स्थायीभाव या संचारी-भाव का कथन किया जाता है वहाँ यह दोष होता है । जैसे—

आँखें चार हुई पल में
रति हुई, देखता रहा खड़ा ।

यहाँ 'रति' स्थायीभाव स्वशब्दवाच्य होने से दोष रूप हैं ।

(२) **पुनः पुः दीप्ति**—जहाँ एक बार किसी विशेष रसका प्रसंग समाप्त हो जाने पर भी उसी रसका फिरसे बार-बार वर्णन किया जाय, वहाँ यह दोष होता है । जैसे—'कुमारसंभव' में रतिविलास के प्रसंग में करुण रस का वर्णन (सर्ग ४-१ में) एक बार समाप्त करके उसे फिर (सर्ग ४-४ में) पुनः दीप्त किया गया है, अतः यह दोष है ।

(३) **प्रकृतिविपर्यय**—इस दोष की संभावना वहाँ होती है जहाँ 'जो जैसा है उसका वैसा वर्णन हो' । जैसे रामायण की कथा में धीरोदात्त नायक राम का छद्म से बलि-वध

करना। छल-कपट करना धीरोद्धत नायक का लक्षण है, अतः यहां यह प्रकृतिविपर्यय दोष कहा जाएगा।

(४) अमुख्य रस का वर्णन—जहाँ पर अंग या अप्रधान रस का वर्णन विना प्रयोजन के किया जाता है और उससे मुख्य रस की अनुभूति में बाधा पहुंचती है उसे अनंगरस दोष या अमुख्य रस-वर्णन दोष कहते हैं।

यथा—

शीतल जलकण वाहक रे, मलयानिल मंद।
भोजन सकल धरातल रे, आएल नभ चंद।
यौवन थिर नहि मानिनि रे, नहि तोहें कर मान।
होएत सफल मनोरथ रे, करु चुंबन दान।।

इसमें मुख्यरस शृंगार के बीच में 'यौवनथिर नहि मानिन रे' कहकर शान्त रस का प्रयोग किया गया है, जो कि प्रयोजन हीन और मुख्य रस में बाधक है अतः दोष रूप है।

कुछ दोष काव्य में कहीं-कहीं गुण भी बन जाते हैं। कहीं पर यदि वक्ता गुस्से में भरा हुआ हो, वक्तव्य विषय भयंकर हो तो दुःश्रवत्व दोष भी गुण बन जाता है। इसी प्रकार श्रोता यदि व्याकरण का ज्ञाता हो तो क्लिष्टत्व दोष नहीं रहता। अधम-उक्त में ग्राम्यत्व भी दोष नही माना जाता। आनन्द या दुःखमग्न की अवस्था में न्यूनपदत्व और पुनरुक्तत्व गुण बन जाते हैं। अनुकरण में कोई दोष-दोष नहीं रहता। अर्थात् गुण और दोष की समुचित स्थिति को पूर्णरूप से समझकर ही उसके ग्रहण या निराकरण का प्रयास करना चाहिए।

१०

शैली

डा० नत्थन सिंह

पाश्चात्य और प्राच्य सभी विद्वान प्रायः मानते हैं कि शैली का विशेष सम्बन्ध व्यक्तित्व के साथ है। एफ० एल० लूकस तो शैली-विशिष्टता के लिए व्यक्तित्व के साथ-साथ व्यक्ति के चरित्र को भी आवश्यक मानता है। अस्तु, मनोगत भावों की अभिव्यक्ति की, विशेष पद्धति को शैली कहना उचित है। यथार्थ में शैली कथन का एक सुन्दर गुण है। "वह मनोगत भावों को मूर्तरूप प्रदान करने का एक सहज साधन[1] है।" शैली रस का पोषक तत्व भी स्वीकार की जा सकती है। वास्तव में, शैली वैयक्तिक या सामूहिक अनुभूति को संवेद्य बनाने का श्रेष्ठ माध्यम है। "शैली अनुभूत विषय-वस्तु को सजाने के उन तरीकों का नाम है, जो उन विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं।" सत्य यह है कि शैली एक साधन है, उसका साध्य है व्यक्तिगत भाव[2], विचार अथवा अनुभूति को सर्वग्राह्य बनाना। शैली को, हम विचार की वाहिका और वाणी की साधना भी कह सकते हैं; क्योंकि शब्द-साधना ही शैली के सुन्दर और असुन्दर रूप की विधायक होती है।

शैली के सम्बन्ध में, भारतीय विद्वान का मत है—"यह शब्द अंग्रेजी के स्टाइल से लिया गया[3] है।" दूसरे विद्वान, "रचना चमत्कार और विचारों के परिधान" को शैली मानते हैं[4]। लोगिनुस के आधार पर डा० नगेन्द्र के अनुसार उपयुक्त एवं प्रभावक शब्दों से युक्त उत्कृष्ट भाषा, गरिमामय रचना-विधान, भव्य बिम्ब-योजना और प्रायः अतिशयमूलक अलंकारों की योजना-और इन सबके लिए औचित्य का अनुशासन अनिवार्य तत्व[5] शैली के लिए आवश्यक माना गया है।

पाश्चात्य विद्वानों में, मिडिल्टन मरे शैली को, 'अभिव्यक्ति की वैयक्तिक विशेषता जिसमें हम लेखक को पहचान सकें, मानता है।[6] इसके अतिरिक्त भी शैली को मरे लेखक

---

१. गोविंद त्रिगुणायत, शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त,
२. हिन्दी-साहित्य कोश, पृ० ८३७।
३. नंद दुलारे वाजपेयी, प्रकीर्णिका, पृ० ६१।
४. श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन, पृ० ३०२।
५. डा० नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्व, पृ० २३।
६. मिडिल्टन मरे, प्राबलेम्स आव स्टाइल, पृ० ४१।

के चिंतन तथा पर्यवेक्षण का निजी मार्ग स्वीकार करता है। वह शैली का सम्बन्ध, लेखक के भावना-प्रधान एवं बौद्धिक अनुभव के केन्द्र बिन्दु से मानता है और उसे वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यंजना का सीधा मार्ग मानता है।[7]

एफ० एल० लूकस तथ्यों को स्पष्टता तथा संक्षिप्तता के साथ अभिव्यक्त करने की शक्ति को शैली बताता है[9]। इसके अतिरिक्त, लूकस शैली को 'एक व्यक्ति द्वारा अन्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का साधन, शब्दों में परिवेष्टित व्यक्तित्व और कथन में स्पष्टतः अभिव्यक्त चरित्र' मानता है।[10] विद्वान लेखक की मान्यता है कि यदि सुलेखन व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है तो शैली यह कार्य उससे अधिक मात्रा में करती है। इस प्रकार चरित्र सम्बन्धी तथा व्यक्तित्व विषयक उत्कृष्टता शैली की श्रेष्टता को जन्म देती है। इसी आधार पर लूकस ने 'कैटलस और थॉविद' की समता में वार्जिल तथा हॉरेस को अच्छा शैलीकार माना है। उसकी निश्चित धारणा है कि 'शैली का प्रारम्भ चरित्र है।[11]

प्लेटो भी शैली को लेखक की प्रतिच्छाया मानता है। सिसरो, शैलो में व्यक्तित्व की निहिति के साथ-साथ वर्ण्य-विषय और प्रायोजन का भी समावेश करता है। सिसरो के समान ही, डायोनीसियस शैली को वैयक्तिक विशिष्टताओं का शब्द-चित्र मानता है और साथ ही भाव तथा वस्तु का सहज सम्बन्ध भी स्वीकार करता है। पोप के मतानुसार, 'शैली विचार का परिधान हैं।' पेटर के अनुसार आत्मा और बुद्धि का सुन्दर सामंजस्य उत्तम शैली का विधान करता है। रेले, शैली के विषय में पेटर से सहमत हैं। शापेनहर ने, शैली में वैभव और सौन्दर्य तथा दोनों के सुन्दर सामंजस्य पर बल दिया है। जॉनसन, सरलता और सुबोधता को शैली के प्राण मानता है। साथ ही, शब्द-चयन, अलंकार और पद-रचना को शैली के अनिवार्य तत्व स्वीकार करता है। इस विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व शैली का अनिवार्य गुण है और इसकी अभिव्यंजना के लिए शब्द-साधना की नितान्त आवश्यकता है।

हडसन ने शैली की तीन विशेषताएं स्वीकार की हैं—(१) कलाकार का वैयक्कि पक्ष, (२) कलापक्ष और (३) ऐतिहासिक पक्ष। शैली के वैयक्कि पक्ष में हडसन तीन गुणों का समावेश मानता है, जिनसे शैली में व्यक्तित्व की छाप लगती है। वे गुण इस प्रकार हैं—(१) शैलीकार की बौद्धिक गरिमा अर्थात् बुद्धितत्व, (२) शैलीकार की भावात्मक गहराई अर्थात् भावतत्व और (३) शैलीकार का सौन्दर्य विषयक ज्ञान अर्थात् सौन्दर्यतत्व।

---

७. वही, पृ० १३।

८. वही, पृ० १७।

९. एफ० ऐल० लूकस, शैली, पृ० १६।

१०. वही, पृ० ४६

११. वही, पृ० ५८

इन तीनों गुणों की जिस सीमा तक लेखक की गति होगी, उसी सीमा तक शैली में विशिष्टता का समावेश हो सकेगा। विशिष्टता की दृष्टि से शैलीकार के लिए तीन गुणों की अनिवार्यता विद्वान स्वीकार करते हैं। ये गुण हैं—(१) यथार्थता, (२) स्पष्टता और (३) औचित्य। यथार्थता से तात्पर्य, सही परिस्थितियों का पर्यवेक्षण, वास्तविक और तथ्यपूर्ण भाव एवं विचार-ग्रहण और यथार्थ की सीमा के अवलोकन से है। स्पष्टता का अर्थ सही ज्ञान, यथार्थ अनुभूति और परिस्थितियों की तथ्यपूर्ण सरल और स्वच्छ अभिव्यक्ति से है, जिसमें किसी प्रकार की अस्पष्टता या उलझन न रह जाय। औचित्य का अर्थ, सीमा की उचितावस्था से है। शैली में विशिष्टता लाने के लिए और यथार्थता, स्पष्टता तथा औचित्य आदि गुणों के समावेश के लिए हडसन तीन गुणों की आवश्यकता पर और बल देता है। ये तीन गुण हैं—(१) प्रवेश, (२) शक्ति और (३) ध्वन्यात्मकता। प्रवेश से तात्पर्य, भाव ग्रहण की क्षमता अथवा शैलीकार की भावों की गहराई तक की पहुंच या प्रेषणीयता से है। शक्ति और ध्वन्यात्मकता का सम्बन्ध अभिव्यंजना और सांकेतिकता से है।

बुद्धि और भाव तत्व की भाँति ही पाश्चात्यों ने सौन्दर्यतत्व के भी कुछ गुण स्वीकार किए हैं। हडसन के मतानुसार–संगीतात्मकता, आन्तरिक सौन्दर्य, वाह्य सौन्दर्य और आकर्षण आदि के समावेश से शैली में सौन्दर्य तत्व का सन्निवेश हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि शैली के लिए दो पक्षों की अपेक्षा होती है—(१) शैलीकार या लेखक की और (२) शैलीगत तत्व या अन्य उपकरणों की।

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों की दृष्टि से शब्द, शब्द-शक्तियाँ, छन्द, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति और वाक्य आदि शैली के अनिवार्य उपकरण माने गए हैं।

भारतीय आचार्यों ने शैली के रूप और उपकरणों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। "शीलमेव स्वार्थेष्यञ्‌ डीपि य लोपः" अर्थात् शील शब्द में ष्यञ् और डीप प्रत्ययों के योग से शैली शब्द बना, कहकर शैली की व्युत्पत्ति दी है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में शैली के समतुल्य रीति, प्रवृत्ति और वृत्ति आदि शब्द भी प्रयुक्त होते आए हैं। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में, शैली का प्रयोग उस अर्थ में नहीं हुआ, जिस अर्थ में पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में होता आया है। यहाँ तो, इस अर्थ में, रीति शब्द का ही व्यवहार होता आया है। 'विशिष्टा पद रचना रीतिः विशेषो गुणात्मा' काव्यालंकार के इस सूत्र तथा अन्य विवेचनों के आधार पर रीति के अन्तर्गत रस, गुण, वक्रोक्ति, अलंकार और औचित्य आदि का समावेश किया गया है। आचार्य वाजपेयी रीति का मूल अर्थ संघटना मानते हैं और संघटना की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'संघटना शब्दों और वाक्यों की, संघटना काव्य के वस्तुपक्ष के साधन रूप अभिव्यंजना की।[12] इस आधार पर रीति को शैली का पर्याय बिना किसी संकोच के स्वीकार किया जा सकता है। डा० नगेन्द्र भी रीति में व्यक्तिपक्ष का समावेश मानकर उसे शैली का पर्याय मानने के लिए तैयार हैं।[13]

---

१२. नन्द दुलारे वाजपेयी, प्रकीर्णिका, पृ० ५६।

१३. डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका, पृ० ५६।

पोप के अनुकरण पर, डा० श्यामसुन्दरदास ने शैली को 'रचना का चमत्कार और विचार का परिधान माना था। इसका तात्पर्य यह है कि रचना में चमत्कार उत्पन्न करने वाले समस्त गुणों को शैली के उपकरण मान लिया जाय। किसी रचना में, चमत्कार उत्पन्न करने के लिए सब से प्रथम सुष्ठु, परिमार्जित और प्रभावपूर्ण भाषा की अपेक्षा होती है। भाषागत सौन्दर्य और प्रेषणीयता के लिए आवश्यक है, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का सुन्दर प्रयोग। विशेष सन्दर्भ में उचित अर्थ का ग्रहण अभिधा का क्षेत्र है और शब्दों से संकेत एवं परोक्ष शक्ति का प्रयोग लक्षणा का। व्यंजना के अन्तर्गत शब्दों की ध्वन्यात्मक शक्ति का समावेश होता है। दूसरे हृदयगत द्रवणशीलता पिघलाने के लिए माधुर्य, उत्तेजना के चित्रण के लिए ओज और मन की प्रसादना-वस्था के अंकन के लिए प्रसाद गुण का यथावसर समुचित प्रयोग, तीसरे माधुर्य के समावेशार्थ मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिए परुषावृति और गौड़ी रीति एवं प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ावृत्ति पाँचाली रीति की अत्यावश्यकता है।

शैली में अलंकारों का विशिष्ट स्थान है। वे भाषा और भाव की नग्नता का परिहार करके उसमें सुषमा और सौन्दर्य का विधान करते हैं। डा० रामकुमार वर्मा, अलंकारों के प्रयोग में पाँच बातों की प्रमुखता मानते हैं—(१) भाषा की परिष्कृत सृष्टि, (२) नाद सौन्दर्य की परिव्याप्ति, (३) चमत्कार प्रवणता, (४) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण और (५) भाव-तीव्रता अथवा वस्तु-जगत् में प्रच्छन्न भाव को विभिन्न दृष्टि से उभार कर गति प्रदान करना।[14]

अलंकारों के साथ छन्द का भी शैली में अपना स्थान है। उन्हें 'शैली का परिधान कह सकते हैं। यही शैली का मूर्त रूप हैं। इनका सम्बन्ध मानव की रागात्मक-वृत्ति से होता है। सभी विद्वान छन्द की तीन कोटियाँ मानते हैं—(१) मात्रिक, (२) वर्णिक और (३) मुक्तक : यह सही है कि छन्द के शासन में परिचालित भाषा भा बोधन में अधिक समर्थ होती है और छन्द का शृंगार करती है। इसी स्थिति में, अभिव्यक्ति की क्षमता में विकास होता है।

कुछ विद्वान क्रम, संगति, संगठन और अन्विति को अच्छी शैली के अनिवार्य गुण मानते हैं।[15] इनकी व्याख्या के लिए एक दूसरे उद्धरण पर विचार करने की आवश्यकता है। वह इस प्रकार है, "अनेकता में एकता और एकता में अनेकता। एकता के विना अनेकता, विरोध, वैषम्य और अव्यवस्था का रूप धारण कर लेती है और बिना अनेकता के एकता रङ्क और दरिद्र है। अनेकता में एकता द्वारा सम्बद्धता और सुसंगठन के गुण द्योतित होते हैं और एकता में अनेकता द्वारा सम्पन्नता प्रतिपादित होती है। सुसम्बद्ध सम्पन्नता अर्थात्

---

१४. डा० रामकुमार वर्मा- साहित्य शास्त्र, पृ० ११६।

१५. डा० गुलाब राय, काव्य के रूप, पृ० २२६।

थोड़े में बहुत की व्यंजना शैली का मूल गुण है ।"[16] निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि शैली के लिए आवश्यक है—अनेक भावों, विचारों और विरोधी तथा अविरोधी स्थितियों की क्रमबद्ध व्यंजना-पूर्वापर सम्बन्ध निर्वाह की स्थिति, परस्पर सम्बद्धता और आपस में अनुगमनात्मकता ।

शैली के गुण, उपकरण और अंगों के उपरान्त रूप और भेद का प्रश्न उठता है । शैली के विविध रूप हो सकते हैं । इसकी अनेकता के सामान्यतः तीन कारण हो सकते हैं—(१) शैलीकार का व्यक्तित्व- (२) शैली-उपकरण के प्रयोग की विधि, और (३) लेखक का दृष्टिकोण । प्रथम के आधार पर शैली के दो भेद हो सकते हैं—(१) कुशल शैली और (२) शिथिल शैली । दूसरे के आधार पर लगभग दस भेद किए जा सकते हैं—(१) प्रबन्धात्मक शैली, (२) उपदेशात्मक शैली; (३) प्रतीकात्मक शैली (४) नाट्यात्मक शैली, (५) व्यंग्यात्मक शैली, (६) हास्यात्मक शैली, (७) आत्मकथात्मक शैली, (८) पत्रात्मक शैली, (९) गीतात्मक शैली और भावात्मक शैली ।

प्रबन्धात्मक शैली में किसी कथा अथवा प्रबन्ध के वर्णन की प्रवृत्ति होती है, उपदेशात्मक शैली में, राष्ट्रीयतापूर्ण या सांस्कृतिक जागरण विषयक उपदेश रहता है; इस शैली के सामान्यतः दो रूप रहते हैं—उपदेश जब सीधा दिया जाता है, तब शैली का साधारण रूप रहता है और यह कार्य जब अलंकृत शैली में होता है, तब उसे अलंकृत शैली कहा जाता है; प्रतीकात्मक शैली में, अभिव्यक्ति सहज और सरल ढंग से न होकर कवि निर्मित प्रतीकों के माध्यम से होती है । छायावादी काव्य-काल में इसी शैली की प्रधानता रही । नाट्यात्मक शैली में, अभिव्यक्ति का माध्यम कथनोपकथन होते हैं; व्यंग्यात्मक शैली में कलात्मक एवं मार्मिक ढंग से व्यक्ति या समाज की नैतिक अथवा सांस्कृतिक विकृति पर चोट की जाती है । भारतेन्दु-युग की कविता में इस शैली का प्राञ्जल प्रयोग वर्तमान है । इस शैली के मूल में सुधार और उन्नयन का भाव अन्तर्निहित रहता है । हास्यात्मक शैली में, वर्णित वस्तु या व्यक्ति की विकृति का मजाक उड़ाया जाता है । इसके मूल में, उपहसित व्यक्ति के अपमान का भाव रहता है । आत्मकथात्मक शैली में, अभिव्यक्ति आत्मकथा के रूप में होती है; पत्रात्मक शैली में, कथन की प्रणाली पत्र होते हैं । ऐसा लगता है कि समस्त कथा पत्रों के माध्यम से ही सम्पन्न हुई है । गीतात्मक शैली में, अभिव्यंजना का माध्यम प्रगति होता है, जिसमें प्राकृतिक-सौन्दर्य, रूप-सौष्ठव, राष्ट्रीय उन्माद, मानवीय संवेदना, प्रेमानुभूति, कल्पनागत वैभव, वैयक्तिक स्वच्छन्दता, अनुभूति की स्वानुभूतिमूलक स्वच्छन्दता, संगीतात्मकता. संक्षिप्त भाविगत अन्विति, आत्मादर्श और आत्मानिष्ठा आदि का समावेश रहता है । भावात्मक शैली में भावप्रवणता और भावाधिक्य का बाहुल्य रहता है । इसके दो रूप होते हैं— सरल और अलंकृत ।

---

१६. वही, सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १९३ ।

शैली के वर्गीकरण का तीसरा आधार था, लेखक का दृष्टिकोण। इसका तात्पर्य यह कि रचना में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति प्रधान है अथवा वस्तु-तत्व की प्रधानता है। इस आधार पर, आत्मनिष्ठ शैली और वस्तुनिष्ठ शैली नामक दो रूप निश्चित होते हैं।

पद्य के क्षेत्र से हटकर साहित्य का सृजन जब गद्य के क्षेत्र में होने लगता है, तब गद्य में भी शैली के विभिन्न रूप परिलक्षित होते हैं। भावाभिव्यक्ति अथवा विचार-कथन की सामान्यतः दो पद्धतियाँ हैं— १ समासशैली और २ व्यासशैली। स्वभावतः कुछ लोग सूक्ष्म शब्दों में बात कहते हैं, फिर उसकी व्याख्या या विश्लेषण करते हैं। इसको समास शैली कहा जाता है। कुछ लोग सविस्तार बात कहते हैं और अन्त में, अपनी बात का सार थोड़े से शब्दों में रख देते हैं, इसको व्यास शैली कहा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में इन दोनों शैलियों के अनेक उदाहरण वर्तमान हैं।

काव्य सम्बन्धी शैली का उल्लेख करते हुए व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ शैलियों का उल्लेख किया जा चुका है। गद्य में, इनको, व्यक्तिप्रधान और वस्तुप्रधान शैली भी कहा जाता है। जहाँ भावाभिव्यंजन में लेखक की निजी रुचि-अरुचि, राग-विराग, हर्ष-विषाद और उन्माद-प्रमाद की प्रधानता हो, वहां पर व्यक्तिप्रधान शैली और जहां वैयक्तिक भावना या अनुभूति विषयाधिक्य के कारण गौण बन जाय, वहां वस्तुप्रधान शैली पाई जाती है।

व्यक्ति प्रधान शैली के तीन स्थूल भेद माने गए हैं— १ रागात्मक, २ इन्द्रियानुभावात्मक और ३ ज्ञानात्मक अथवा विवेचनात्मक। प्रथम में, लेखक की हृदयगत रागमयी अनुभूतियों की व्यंजना प्रधान होती है; दूसरी में, लेखक इन्द्रियगत सुख-दुख की व्यंजना और तीसरी में, वस्तु एवं भाव का बौद्धिक विश्लेषण होता है। विषय प्रधान शैली के भी इसी प्रकार तीन भेद किए गए हैं।[18] किन्तु, त्रिपाठी जी द्वारा किया गया शैली का यह विभाजन अधिक ग्राह्य प्रतीत नहीं होता।

आलोचना और मनोविज्ञान के आधार पर त्रिपाठी जी ने क्रमशः शैली के दो और तीन भेद किए हैं— १. निर्णयात्मक आलोचना शैली और २. व्याख्यात्मक आलोचना शैली १. रूढ़ि शैली, २' धार्मिक शैली और ३. राष्ट्रीय शैली आदि तीन मनोविज्ञान पर आधारित भेद हैं। शैली का यह विभाजन भी प्रात्रार्धक अधिक और व्यावहारिक तथा बुद्धिग्राह्य कम है।

गद्य-शैली के, डा० रामकुमार वर्मा ने; चार भेद किए हैं[19] वह वर्गीकरण सुस्पष्ट और सुबोध है। वर्गीकरण इस प्रकार है— १ इतिवृत्तात्मक शैली, २ विश्लेषणात्मक शैली, ३ विवेचनात्मक शैली और ४ कलात्मक शैली। किसी घटना अथवा स्थिति के यथा-तथ्य वर्णन में इतिवृत्तात्मक शैली का विकास होता है। अतः ऐतिहासिक घटना के

---

१७. करुणापति त्रिपाठी, शैली, पृ० २०१।

१८. वही, पृ० २१२।

१९. साहित्य-शास्त्र

वर्णन में यह शैली मिलती है। विश्लेषणात्मक शैली के दर्शन राजनीतिक, सामाजिक अथवा दार्शनिक विषय के विवेकपूर्ण प्रतिपादन या विश्लेषण में होते हैं। विवेचनात्मक शैली में, विवेच्य विषय के गुणदोषों का निरूपण एवं साहित्यिक, दार्शनिक और समाज शास्त्रीय विषयों का तुलनात्मक एवं विवेचनापूर्ण अध्ययन होता है। कलात्मक शैली में, भावना और कल्पना का वैभव रसात्मकता का परिपाक और सौन्दर्य के अनेक पक्षों का उद्‌घाटन होता है।

अरस्तू ने शैली के दो रूप माने हैं— १–साहित्यिक शैली और २–वादात्मक शैली वादात्मक शैली को भी वह दो भेदों में बांटता है— १–राजनीतिक शैली और २–उग्र शैली। अरस्तू का यह विभाजन विधान पर आधारित है। अरस्तू, प्रसाद और औचित्य को शैली के गुण और समास-प्रयोग, अप्रचलित शब्द-व्यवहार, अनौचित्यपूर्ण विशेषण के समावेश तथा अनौचित्यपूर्ण रूपकों के सन्निवेश को शैली के दोष मानता है।

डिमीट्रियस शैली के चार भेद स्वीकार करता है— १–प्रसन्नमार्ग, २–उदात्तमार्ग, ३ मसृणमार्ग (Polished style) और सशक्त मार्ग (Powerful Style)। इनके अनुसार चार प्रकार की निकृष्ट शैली होती है— १–शिथिल शैली, २–कृत्रिम शैली, ३–प्रकृति शैली और ४–अनुकूल शैली।

अनेक विद्वानों के विचारों का मन्थन करने के उपरान्त निष्कर्ष यह निकलता है कि शैली के स्वरूप का निर्माण व्यक्ति के भाव, विचार और अनुभूति की व्यंजना से होता है। यह व्यंजना जिस समय गुण, वृत्ति, रीति और अलंकार आदि से प्रसाधित एवं शृंगारित भाषा का परिधान पहन कर आती है, तब सुन्दर शैली का रूप धारण कर लेती है। शैली का सौन्दर्य व्यक्ति की बौद्धिक गरिमा और उदात्तभावना पर अधिक निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त भाषा की सरसता, स्पष्टता और व्यावहारिकता शैली को अधिक प्रभावशाली और प्राञ्जल बनाती है।

———

११

आचार्य भामह की महाकाव्य–विषयक मान्यता

श्री हरीदत्त शर्मा 'सुधांशु'

दृश्य काव्य का विधान तो आचार्य भरत मुनि द्वारा बहुत पूर्व निर्मित हो चुका था किन्तु श्रव्य काव्य के क्षेत्र में विशेषतः महाकाव्य के विषय में सर्वप्रथम विधान-निर्माण का श्रेय आचार्य भामह को है। अपने लक्षण ग्रन्थ 'काव्यालंकार' के निर्माण के समय विशेषतः महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करते समय आचार्य भामह (षष्ठ शतक का मध्य-काल) के समक्ष अवश्य ही वाल्मीकि रामायण अश्वघोष द्वितीय शती ईस्वीं') के 'सौन्दरनन्द' और बुद्धिचरित तथा कालिदास (प्रथम शती ईस्वीपूर्व से पञ्चम शती ईस्वीतक, अनिर्णीत काल का 'रघुवंश' अवश्य रहे होंगे, तभी उनकी महाकाव्य परिभाषा में सर्गबन्ध महान् चरित्र का चित्रण, कथानक का सदाश्रयत्व, नायक का अभ्युदय-प्रदर्शन इत्यादि बातें आयी हैं। चरित्र की महत्ता संदेश की गरिमा, असत् पर सत् की विजय चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जो भारतीय चिन्तन में सदा से ही ओत-प्रोत रही हैं जिनकी पूर्व अभिव्यक्ति समग्र साहित्य में मिलती है। फिर महाकाव्य तो अपनी समस्त गरिमा से मण्डित होने के नाते इस प्रकार की अभिव्यक्ति के अधिकतम अनुकूल है।

आचार्य भामह ने महाकाव्य के विषय में जो अपने विचार प्रकट किये हैं उन्हें मननार्थं अविकल अनुवाद रूप में उद्धृत किया जाता है—"महाकाव्य सर्गबन्ध होता है वह महान् पुरुषों का होता है तथा स्वयं महा(होता है। उसमें अग्राम्य शब्दों और अर्थों का होना आवश्यक है। वह अलङ्कार सहित तथा सदाश्रय होता है। उसमें मन्त्र, दूत, प्रयाण और युद्ध का वर्णन होता है और नायक का अभ्युदय भी। वह पाँच सन्धियों से युक्त होता है; अत्यन्त व्याख्या के योग्य नहीं होता तथा ऋद्धिमान् होता है। वह चतुर्वर्ग के अभिधान में भी बारम्बार अर्थ का ही उपदेश करने वाला होता है एवं लोकस्वभाव से तथा सकल रसों से युक्त होता है। वंश, पराक्रम और ज्ञान आदि से नायक को आरम्भ में उपन्यस्त करके पुनः किसी अन्य पात्र के उत्कर्ष-कथन की इच्छा से उस का नायक का वध न कहे। अर्थात् उसके वध की कथा महाकाव्य में न रखे। यदि काव्य-शरीर की

व्यापकता की दृष्टि से उसकी अपेक्षा नहीं है अथवा वह काव्य-शरीर का अभ्युदय सम्पादन करने वाला नहीं बनता, तो उसका ग्रहण ही व्यर्थ है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा में महाकाव्य की कथा-वस्तु, नायक, रस, उद्देश्य तथा शिल्प के विषय में परिस्फुटतया विचार प्रकट किये गये हैं।

महाकाव्य जैसा कि नाम से प्रकट है; महान् होना आवश्यक है। यह महत्ता उसकी कथावस्तु की गरिमा, मायक के धृति, औदार्य आदि गुणों, चतुर्वर्ग, फल, कथन, रूप, उद्देश्य आदि से सिद्ध होता है। इसके साथ ही आकार की महत्ता भी जो अत्यन्त गौण है प्रकट होती है। कथा वस्तु का 'सदाश्रय' होना महाकाव्य की महत्ता के प्रकटनार्थ अत्यन्त वाञ्छनीय है। 'सदाश्रय' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं— १. सज्जन-आश्रित होना, उत्तम आचरण वाले पुरुषों के आश्रित होना, और २. सत्य के आश्रित होना। उत्तम आचरण वाले पुरुषों के जीवन-चरित्र, जो तत्कालीन परिस्थितियों में आदर्श-पालन-हेतु संकटों में से गुजरने और सुदृढ़ रहने की कथा को संसार के समक्ष रखें, इसकी कथावस्तु के विषय हैं। एतदतिरिक्त, कथा वस्तु केवल कपोल-कल्पित न हो, अपितु सत्य घटनाओं के आश्रित हो, जिनकी सत्यता का पाठकों पर प्रभाव पड़े।

महाकाव्य के नायक को महाकाव्य के अनुकूल गरिमासम्पन्न और महान् होना चाहिए। सामान्यतया, अन्य सभी पत्रों में भी कुछ महत्ता होनी चाहिए जैसा कि महतां च महच्च यत्' में 'महतो' के बहुवचन से प्रकट होता है। महाकाव्य महान पुरुषों के वर्णन से युक्त होता है और स्वयं भी महान होता है। नायक की महत्ता वंश-सम्बन्धी, पराक्रम सम्बन्धी एवं ज्ञान सम्बन्धी होनी आवश्यक है। ऐसे ही नायकों को कवि महाकाव्य की कथा वस्तु में उपन्यस्त करे। जाति, कर्म और बुद्धि तीनों प्रकार की महत्ता की वाञ्छनीयता पर बल दिया गया है। नायक का साधारणण्य जैसा कि आज साहित्य में अपेक्षित है, पहले न

---

१ सर्गबन्धो महाकाव्यं महतं च महच्चयत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालङ्कार सदाश्रयम्॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायका म्युदयञ्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभियुक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्॥
चतुर्वर्गभिधानेऽपि भूयसाऽर्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥
नायकं प्रागुप-यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितवेष्यते।
न चाम्युदयभीक् तस्य मुधादो ग्रहणस्तवो॥
भामह : काव्यालङ्कार : परि० १ श्लोक १६-२३

था। साधारणय में यथार्थ-दर्शन तो हो जाता है, किन्तु महान् आदर्श की उपलब्धि नहीं होती जो मानव-जीवन में प्रगति के लिए अपेक्षित हैं और महाकाव्य के लिए तो अत्यन्त आनिवार्य तत्त्व हैं। नायक के सम्पूर्ण जीवन-चरित्र में चाहे संकटापन्नता की स्थिति व्याप्त हो और वह उस स्थिति में संघर्ष करता हुआ कभी विजयी और कभी विजित एवं निराश प्रदर्शित किया जाय किन्तु अन्त में उसका अभ्युदय अवश्य होना चाहिए अन्यथा महाकाव्य का प्रभाव क्षीण हो सकता है; क्योंकि अन्त में उसकी विजय संकटों पर आदर्श की विजय का, असत् पर सत् की विजय का प्रतीक है। युग-परम्परापोषित सांस्कृतिक भावना (जिसका कि नायक प्रतिनिधित्व करता है) की विजय दिखाना महाकाव्य में अत्यन्त वांछनीय माना गया है जिससे नायक का अभ्युदय महाकाव्य के अभ्युदय का कारण बने।

महाकाव्य का लोक स्वभाव से युक्त होना आवश्यक है। जिस देश का वह महाकाव्य है एवं जिस देश की कथावस्तु को लेकर वह आगे बढ़ता है, उस देश की मिट्टी से, उसके जन-मानप से अन्तरङ्ग से परिचित होना उस (महाकाव्य) के लिए आवश्यक है। इसी आधार पर उसकी रसवत्ता टिकती है। देश के सम्पूर्ण वातावरण का स्पन्दन जब तक महाकाव्य में नहीं बोलेगा, तब तक जन-मानस में रस का उद्रेक करने में वह असमर्थ होगा और रस का उद्रेक काव्य-मात्र के लिए परमावश्यक है अतः महाकाव्य के लिए तो और भी उसकी आवश्यकता बढ़ जाती है।

महाकाव्य की गरिमा और महत्ता उसके उद्देश्य-प्रतिपादन में है। महाकाव्य के प्रतिपाद्य महान् उद्देश्यों में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के कथन पर बल दिया गया है। सभी भारतीय प्राचीन काव्याचार्यों ने चतुर्वर्ग-फल-कथन को महाकाव्य का उद्देश्य स्वीकार किया है। भारतीय चिन्तन में भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के चार परम पुरुपार्थ माने गये हैं। जीवन की समग्रता जब महाकाव्य में समर्थ अभिव्यक्ति पाती है, तो जीवन के पुरुषार्थ भी महाकाव्य के उद्देश्य-रूप हों, यह स्वाभाविक ही है। परवर्ती आचार्यों में से किसी ने चतुर्वर्ग में से किसी एक पुरुपार्थ का, किसी ने चारों का वर्णन महाकाव्य में आवश्यक माना है। आचार्य भामह की विशेपता इसमें है कि उन्होंने "भूयसा ऽर्थोपदेशकृत" कह कर चतुर्वर्ग में से केवल उपदेश पर ही बल दिया है। इस प्रकार संभवतः उन्होंने 'अर्थसिद्धि' अर्थात् 'प्रयोजनसिद्धि' को ही प्रमुख माना है। 'अर्थ' के अर्थ, धन, साधन और प्रयोजन हैं जिनमें से अन्तिम दो को ग्रहण करना महाकाव्य के संदर्भ में उचित है। धर्म और मोक्ष आदि पर विशेप बल न देकर उन्होंने महाकाव्य के उद्देश्य को भौतिकयथार्थ पर लाने की चेष्टा की है।

महाकाव्य के शिल्प के विपय में आचार्य भामह कृत परिभापा में से हमें आठ बातें उपलब्ध होती हैं— १. सर्गबद्धता, २. अग्राम्य शब्दों और अर्थों का प्रयोग, ३. सालङ्कारता, ४. मन्त्र-दूत-प्रयाणाजि-वर्णन, ५. नायकाभ्युदयप्रदर्शन, ६. पंचसन्धियों से युक्त होना, ७. अतिव्याख्येय न होना, और ८. ऋद्धिमान् होना। इन आठ बातों में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण

रस आदि का शिल्प तथा भाषा शैली सभी कुछ अन्तर्निहित है। सर्गबद्धता तो महाकाव्य के शिल्प का सर्वसम्मत आवश्यक गुण है क्योंकि इसके बिना महाकाव्य का विशाल कथापट अनावश्यक रूप मे विस्तीर्ण दिखाई देगा और अप्रबन्धित होकर अरुचिकर हो जायगा। ग्राम्य शब्दों और अर्थों के प्रयोग से महाकाव्य में स्तर-विहीनता आती है और वह शिष्ट एवं सु-संस्कृत जनों में प्रिय नहीं हो पाता। यहां 'ग्राम्य' शब्दों और अर्थों से भामह का अभिप्राय 'अशिष्ट' शब्दों-अर्थों से है, नकि ग्रामीण वातावरण में जन्में शब्दों-अर्थो से। महाकाव्य के अलङ्कृत होने की यदि अनिवार्यता नही तो वाञ्छनीयता तो अवश्य ही है। ऐसे इस 'सालङ्कारता' को परवर्ती आचार्यों ने आवश्यक गुण मान कर अत्यन्त विस्तार देकर अलङ्कृत महाकाव्यों की परिपाटी को जन्म दिया। महाकाव्य के वस्तु-वर्णन में नायक (राजा अथवा अन्य उच्चकुलोदभूतत) सचिवों से मन्त्रणा, प्रतिनायक के प्रति दूत-प्रेषण तदनु सेना प्रयाण और युद्ध का वर्णन और अन्तिम रूप से नायक के अभ्युदय का प्रदर्शन आदि होने चाहिए। महाकाव्य की कथा वस्तु में पांच नाट्यसन्धियों का सुष्ठु नियोजन होना आवश्यक माना गया है। इन पांच सन्धियों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण) के सुनियोजन से कथावस्तु की क्रमिक प्रगति स्पष्ट होती रहती है, अन्यथा कथावस्तु अक्रम होकर अस्वाभाविकता को जन्म देती है। महाकाव्य अतिव्याख्येय नहीं होना चाहिए। यह अतिविस्तार सुगठन के अभाव को द्योतित करता है। सुगठित वस्तु अतिविस्तृत नहीं हो पाती। वस्तु का चतुर्दिक विस्तार तो परमावश्यक है किन्तु असंगठित अतिविस्तार नहीं। अति विस्तार का निषेध अति संक्षेप का अभिप्राय कदापि नहीं देता। महाकाव्य की ऋद्धि-मत्ता अर्थात् वैभव शालिता सम्पन्नता आवश्यक है। यह ऋदमत्ता महाकाव्य की स्तरीण भाषा, गरिमा-मण्डित आत्मा, महान् उद्देश्य समन्वितता, जन-मानसान्दोलन की क्षमता आदि सब से सम्भव होती है।

इस प्रकार आचार्य भामह की परवर्ती आचार्यों से इस बात में भिन्नता है कि उन्होंने महाकाव्य के वस्तुवर्णन की लम्बी सूची नहीं दी। उसे कवि के वर्णन सामर्थ्य पर छोड़ दिया क्योंकि वस्तु-वर्णन की सूची का प्रस्तुतीकरण अपने आप में साध्य नहीं है। वह केवल सम्पूर्ण कथा वस्तु, चरित्र चित्रण और रसाभिव्यक्ति का साधन-मात्र है। दूसरे उन्होंने मंगलाचरण-विधान आदि की आवश्यकता पर बल नहीं दिया। यह विधान वाद के आचार्यों ने किया। उन्होंने महाकाव्य में श्रृंगार वीर और, शान्तरस की प्रमुखता की बात नहीं कही। यह विधान परवर्ती आचार्यों ने वस्तु-गठन की सुविधा की दृष्टि से किया।

अतः आचार्य भामह की महाकाव्य-विषयक मान्यता में महाकाव्य की समस्त स्वाभाविक गरिमा सुरक्षित है। आलङ्कारिकता पर बल न देकर उन्होंने उसकी स्वाभाविकता की सुरक्षा में योग दिया। महाकाव्य के सारे बाह्य अलङ्करण वाद की उपज हैं।

१२ कथा के आधार—तत्व

डा० देवराज उपाध्याय

आज के युग की वर्तमान समस्याओं, ऐतिहासिक तथ्यों तथा सामाचार पत्रोचित घटनाओं को ही उपन्यास के आवरण में उपस्थित करने की चेष्टा की जाती है, अर्थात् वास्तविकता को ही गल्प बनाकर पेश किया जाता है। आप को बतलाना है कि देश के विभाजन के परिणाम स्वरूप भारत को किस उथल-पुथल का सामना करना पड़ा; कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं की स्वार्थोपरायण मनोवृत्ति ने देश में किस अनैतिकता का वातावरण उपस्थित कर दिया, बंगाल के अकाल ने किस नारकीय दृश्य की, सृष्टि की देश में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन को सफल बनाने के लिए किन-किन हथकण्डों से काम लिये गये। अपने इन तथ्यों के आधार पर ही एक गल्प की रचना कर दी। अमेरिका की विदेशनीति और साम्यवादी रूस की विदेशनीति की पारस्परिक तुलना करनी है, अथवा भूदान-यज्ञ की महत्ता को प्रकट करना है—सब की सेवा में उपन्यास को नियोजित कर दिया जाता है। होना तो यह चाहिए था कि गल्प को ही तथ्य के रूप में उपस्थित किया जाय। शायद उपन्यास इसी ध्येय को लेकर चला भी था और आज तक हमारे उपन्यासकार यही करते आ भी रहे थे। उपन्यासकारों का सदा से ध्येय यही रहा कि उनकी रचना के सृजनात्मक पहलू की ओर पाठकों का ध्यान न जाने पावे, लोगों के मस्तिष्क पर सत्य का मायाजाल फैल जाय और वे उसी का आनन्दो-भोग करें। इसके लिए उन्हें कितने साधनों से काम लेना पड़ता था, डीफो जैसे अंग्रेजी के प्रारम्भिक औपन्यासिकों की कृतियों में इस बात की चेष्टा स्पष्ट है कि उनकी उल्लिखित काल्पनिक घटनाओं को पाठक सत्य के रूप में ग्रहण करें। गद्य के विकास के साथ ही, पत्रकारिता के गर्भ में, उपन्यास कला उत्पन्न हुई होगी। आज तक की उपन्यास कला के विकास का इतिहास पत्रकारिता से उसके अलग होने का इतिहास है। पर डीफो के समय तक उसमें इतनी सामार्थ्य नहीं आयी थी कि वह ग्रपनी स्वतन्त्र घोषणा कर सके और लोगों के आदर का दावा अपनी मौलिक स्वतन्त्र शक्ति के बल पर पेश कर सके। यह युग था जबकि उपन्यास-कला के नाम से एक साहित्यिक रूप-विधान का व्यक्तित्व उत्पन्न हो चला था। उपन्यासकला वजूद में तो आगयी थी, पर खुल कर सामने आने में डरती थी, अपने को पत्रकारिता ही कहती थी; कारण, उसका खयाल था और ठीक था, कि पाठक इस उपन्यास नामक वस्तु से परिचित नहीं, वे जानते हैं, केवल पत्रकारिता को। गल्प उनके लिए विदेशी है, पत्रकारिता अर्थात् तथ्य ही उनके लिए स्वदेशी हैं। अतः बिना तथ्य की दुहाई दिये उसे मान्यता मिल ही नहीं सकती।

रिचर्डसन के उपन्यासों की रचना पत्रात्मक शैली मे है। पात्रों ने समय-समय पर एक दूसरे के पास पत्र लिखे हैं। इस पद्धति के उपन्यासकार को पाठकों के सामने अपनी कल्पना को सत्य के रूप में उपस्थित करने की थोड़ी सहूलियत हो जाती है। आखिर सिद्धान्ततः यह बात मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि जिन घटनाओं का वर्णन हो रहा है उनका ज्ञान उपन्यासकार को हो सकता था। पूरे पत्र-व्यवहार का हाथ लग जाना असम्भव नहीं है। अंग्रेजी में तो ऐसे उपन्यासों की एक परम्परा ही होगयी थी जिनमें उपन्यासों को इस तरह पेश किया जाता था मानो वे किसी जमाने में किसी के द्वारा लिखे गये दस्तावेज के पुनः प्रकाशन मात्र हों। हाँ, कागज जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थे, कहीं लिपि स्पष्ट न थी, एक-आध पन्ने गायब हो गये थे। अतः सम्पादक ने वहाँ की कड़ी मिलाने के लिए अपनी ओर से कुछ जोड़ दिया हो। डीफो के प्रायः सभी उपन्यास इसी शैली में हैं - थैकरे ने Henry Esmond में यही किया है। होरेस वालपोल का Castle of Otranto भी इसी प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण है। हिन्दी में जैनेन्द्र का त्यागपत्र, और हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'वाणभट्ट की आत्म कथा' में गल्प को तथ्य बनाकर लिखने का उद्देश्य परिलक्षित होता है।

आज उपन्यास-कला चेतना प्रवाह (Stream of Consciousness) तक पहुँच गयी है; जहाँ यथातथ्यता ही कल्पना की तरह लगती है। उपन्यासकार अपने पत्रों के क्रिया-कलाप, उनकी मूल प्रेरणा तथा उसके सांकेतिक मूल्यों को पात्रों से भी अधिक जानता है। मनोवैज्ञानिक बतलाते हैं कि मनुष्य की चेतना का क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसमें कितने ही स्तर हो सकते हैं, चेतना का एक वह स्तर होता है, जहां की प्रक्रिया बुद्धि के द्वारा नियंत्रित होती है और जिसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। पर चेतना का एक वह स्तर भी है जहाँ के व्यापार होते हैं अपने स्वाभाविक ही ढंग पर, उनमें कोई यौत्तिकता नहीं दीख पड़ती है और उन्हें शब्दों के जाल में पकड़ा भी नहीं जा सकता है। आज के उपन्यासकार का दावा है कि उसकी प्रतिभा की किरणें पात्रों की चेतना की प्रत्येक तह तक प्रवेश कर सकती है; वह संजय की तरह दिव्य दृष्टि सम्पन्न है। पाठक-रूपी धृतराष्ट्र भले ही अन्धा हो और चेतना की गहराई में अज्ञात रूप से चलते रहने वाले महाभारत को न देख सकता हो पर यदि वह संजय की बातों पर विश्वास करें तो वहाँ की राई-रत्ती से वह परिचित हो सकता हैं। आज उपन्यासकार की सर्वज्ञता गूढ़तम रहस्य के स्थलों में प्रवेश कर जाने वाली दिव्य दृष्टि सम्पन्नता; 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' वाली सर्व समर्थता वाला अधिकार स्वीकृत हो चुका है। आज यह मान लिया गया है कि उपन्यासकार की प्रतिभा अपने सृजन में अपने पत्रों तथा उनके व्यापारों के आविष्करण में स्वतन्त्र है और स्रष्टा के नाते पात्रों तथा उनके आचरणों के विषय में उसका ज्ञान सबसे अधिक है, यहाँ तक पात्रों से भी अधिक। वह पात्रों के विषय में ऐसा ज्ञान रखता है, जिसे पात्र स्वय नहीं जान सकते, एक युग था, जब उपन्यासकार की कल्पना सृजन में तत्परत्व तो दिखलाती थी, पर उसे सृजन कहते डरती थी; और जहाँ तक हो उस पर यथातथ्य का रंग चढ़ाये रहती थी। पर आज युग बदल गया है। आज सृजन ही प्रधान हो गया है, यथातथ्यता गौण। यथातथ्यता भी सृजन का रूप

धारण करके ही सामने आना चाहती है। पाठक भी कुछ ऐसा बन गया है कि इस परिस्थिति में उसे कुछ भी असाधारणता नहीं दीख पड़ती। जीवन की यथातथ्य घटनाओं पर ऊपर से एक कथानक चिपका दीजिये; वह उन्हें एक सूत्र में आबद्ध किये रहेगा, सत्य को कल्पना के रूप में उपस्थित करने का दम भरना और पाठक के बीच उपन्यास के नाम से मान्यता प्राप्त कर लेगा। और जब कि उपन्यास के क्षेत्र से कथानक अपदस्थ हो चुका है, कथानक की आवश्यकता ही नहीं है, केवल जीवन से कुछ पात्र चुन लीजिए और उन्हें अनुरूप वेष-भूषा मे उपस्थित कर दीजिये। आप का काम चल जायेगा और आप उपन्यास-लेखक मान लिये जायेंगे।

यहां स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि इस प्रवृत्ति से उपन्यास-कला को कहाँ तक लाभ हुआ है और कहाँ तक हानि। पहले के उपन्यास, जिनमें कल्पनात्मक घटनाएँ यथातथ्यता का मुँह जोहती रहती थी—कहां तक लाभ में रहते थे? परिस्थिति के वैपरीत्य में अब, जब यथातथ्यता कल्पनात्मक बन जाने के लिए लालायित रहती है, तो इसके कारण उपन्यास-कला कहाँ तक दरिद्र हो गयी है? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें इस विषय में स्पष्ट हो जाना चाहिये कि उपन्यास पढ़ते समय हम उससे किस बात की आशा करते हैं? आगे चल कर प्रश्न यह हो जाता है कि किसी भी रचना की वह विशिष्टता क्या है, जो उसे साहित्य में परिगणित होने का गौरव प्रदान करती है? मौलिक, शुद्ध और तात्विक रूप में यह विविध नाम-रूपात्मक साहित्य में एक ही है। यहाँ तक कि कुछ विचारकों का यह मत है कि साहित्य के क्षेत्र में गद्य, पद्य, कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आत्म-चरित्र आदि विविध नामों का प्रयोग व्यर्थ है। इन सभी में शब्दों के द्वारा ही कला तो अपने रूप का प्रकाशन करती है। मुक्त छन्द ने गद्य-पद्य का विभेद ही समाप्त कर दिया है। ऐसी अवस्था में हम एक सर्वसाधारण शब्द 'साहित्य' से ही क्यों न संतोष करें—और किसी रचना पर विचार करते समय केवल यही क्यों न देखें कि शब्दों के व्यवहार में उसमें किस प्रकार का गौरव या विशिष्टता है? अतः उपन्यासों के विवेचन में देखना है कि शब्दों के व्यवहार में कितने कौशल ने काम लिया गया है और वे शब्द इस ढंग से व्यवहार में आकर कितने प्रभावोत्पादक तथा व्यंजक हो गये हैं।

कहानी में क्या रहता है? कुछ काल्पनिक अथवा वास्तविक अथवा उभयमिश्रित घटनाओं का उल्लेख? इन घटनाओं की एक निश्चित या दृढ़ रूपरेखा होती है। इनकी अपनी सत्ता होती है। ये स्वतन्त्र होती हैं, अपने वास्तविक रूप में जीवित रहना इनका कर्त्तव्य होता है और ये घटित होकर रहेंगी, दूसरों को इनसे क्या लेना-देना? ये निरपेक्ष रूप में अपनी सत्ता के धारण में संलग्न रहती हैं। परन्तु यहाँ इन घटनाओं के वर्णन का उपक्रम भाषा द्वारा होने लगा कि ये नूतन रूप धारण करने लगती हैं; इनके नये पहलू सामने आने लगते हैं; इनमें नये मूल्यों, नये महत्त्वों और नये अर्थों का समावेश होने लगता है।

अभिव्यक्ति सदा सक्रिय होती है। भाषा किसी घटना या वस्तु को अभिव्यक्त तो करती ही है, पर इस अभिव्यक्तिकरण की प्रक्रिया में वर्ण्य वस्तु या घटना किसी-न-किसी

रूप में निर्मित भी होती रहती है, परिवर्तित भी होती रहती है, नूतन सार्थकता भी अर्जित करती चलती है। काल्पनिक अथवा वास्तविक घटना के मूल स्वरूप में तथा भाषा के द्वारा उसके वर्णित या अभिव्यक्त स्वरूप में कभी एकता नहीं होती। वर्णन क्रियात्मक होता है, निर्माणात्मक होता है, वर्णन की समस्या आते ही कांट-छांट की बात आजाती है, वस्तु को वर्णनीय बनाने के लिए, प्रेषणीय बनाने के लिए, उसके ऊपर जमे हुए ऊबड़-खाबड़ अंशों को दूर कर देना पड़ता है; और उन्हीं अंशों पर ध्यान देना पड़ता है जो उसे सार्थकता प्रदान कर सकें। अतः उपन्यासों पर विचार करते समय हमें सदा ध्यान इसी का रखना चाहिये कि इस क्षेत्र में काल्पनिकता या वास्तविकता को कोई भी विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। ऐसी बात नहीं कि यदि उपन्यास का उपजीव्य वास्तविक जगत् की घटना है, तो वह अधिक सार्थक तथा प्रभावोत्पादक होगी और यदि वह काल्पनिक हुई तो उपन्यास के महत्व के लिए घातक होगी। यहां पर यदि प्रधानता है तो भाषा और उसके प्रयोग की सक्रियता की। शब्दों का निवेचन इस ढंग से हो कि वे अधिक से अधिक व्यंजक हों, विधायक कल्पना अपनी पूरी शक्ति से काम करती हो, तथा कथा का पूर्व पर क्रम इस कौशल से बिठाया गया हो कि वे पारस्परिक आदान-प्रदान से एक-एक पद को समृद्धतर करते चलें और अन्त में सब मिल-कर समवेत रूप में पाठक की अनुभूति को दिव्यतर बना सकें।

एक श्लोक है:—

"आहारनिद्राभय मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥"

अर्थात् धम ही वस्तु है जो मनुष्य को पशु से पृथक् करता है। पुरातन काल में धर्म शब्द का प्रयोग होता था, आज हम कहते हैं, विवेक, विचार, बुद्धि। अर्थात् मनुष्य विवेक-शील प्राणी है। विचार करना, सोचना-समझना उसका धर्म है। इस महान् उत्क्रान्ति की प्रक्रिया में जिस दिन किसी रासायनिक परिवर्तन के कारण प्राणी में विवेक का अंकुर उगा, उसी दिन वह मनुष्य हो गया होगा, विचार करने लगा होगा। थोड़ा-सा विचार करने से पता चलेगा कि सोचने, समझने या विचार करने वाली प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती है, आत्मनिष्ठ होती है। हम अपने ऊपर ही विचार करते हैं। यदि हम कभी बाह्य वस्तु पर विचार करते से दीखते-भी हैं तो भी हम उसके सहारे अपने को लेकर ही ऊहापोह करते हैं। आपने घट को देखा; घट का ज्ञान तो हुआ, पर आप सूक्ष्मतापूर्वक देखें तो आपके ज्ञान का स्वरूप यह होगा। 'अहं घटं जानामि।' पहले आपको आपके अहम् का ज्ञान हुआ, बाद में घट का। मैं तो एक पद आगे बढ़कर यह कहूंगा कि आपको घट-समन्वित अहं का ज्ञान हुआ। कहने का मतलब यह कि मनुष्य के ज्ञान का केन्द्र मनुष्य है; वह अपने को आविष्कृत करना चाहता है। उपन्यास भी मानव की क्रिया का एक रूप है। जिसके द्वारा पर अपस को जानना चाहता है।

अतः उपन्यासकार का सर्व प्रथम कर्त्तव्य यह है कि घटनाओं की योजना तो करे, पर उसकी शैली ऐसी हो कि पाठक उनके मध्य में प्रतिष्ठित हो उनके आघातों। और प्रति-घाताओं की जांच कर सके। कथाओं में परियाँ आएँ, भूत-बैताल आएँ, पशु-पक्षीगण आएँ

तथा जाएं, इसकी कोई परवाह नहीं। पाठक को इतने से ही मतलब है कि ये सब एक मानव के सम्पर्क में आ रहे हैं; क्योंकि वही मानव है। वे उसे ही प्रतिक्रियातत्पर कर रहे हैं; उसमें कुछ प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर रहे है। इस जगत का रहने वाला मानव भले ही कुछ देर के लिए उठाकर कथा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर दिया जाय, पर वह रहेगा मानव ही, उसका मानवीय धर्म वहाँ भी उसके साथ लगा रहेगा और वह हर हालत में उसी तरह प्रभावित होगा जिस तरह एक मानव होता है।

उपन्यास की तुलना हम एक प्रयोगशाला से कर सकते हैं। प्रयोगशाला में भी संसार में पाये जाने वाली चीजों का उपयोग होता है—उन्हीं वस्तुओं पर प्रयोग किया जाता है जो अन्यत्र पाई जा सकती हैं, पर यहाँ परिस्थितियों पर थोड़ा नियन्त्रण रहता है, यहाँ ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि प्रयोगशाला की वस्तु को साधारणतः पड़ने वाले विविध प्रभावों से मुक्त रखकर उसे कुछ विशिष्ट वस्तुओं से सम्बद्ध कर उसकी प्रति-क्रिया देखी जा सके। यही बात उपन्यासों पर भी लागू होती है। वास्तविक जीवन में मनुष्य का प्रभाव-क्षेत्र अपने बन्धु-बन्धवों तथा ऐसे ही कुछ अन्य लोगों के सम्पर्क तक ही सीमित रहता है। परन्तु उपन्यास में मानव को किसी भी वस्तु, चेतन या अचेतन के सम्पर्क में लाकर उसके भावों, विचारों, अनुभूतियों और आचरणों को हम देख सुन सकते हैं। और इस प्रकारान्तर से अपने को ही अनेक परिस्थितियों में रखकर अपने को ही जानने-पहचानने या तौलने की क्रिया हो जाती है। एक आलोचक के शब्दों में "उपन्यास हमें मानव मस्तिष्क तथा हृदय को टार्च के सहारे देखने की सुविधा देता है; इतिहास तो केवल दिन की प्राकृतिक रोशनी प्रदान करता है, जो इन रहस्यपूर्ण स्थानों में प्रवेश ही नहीं कर सकती।" मानव द्वारा मानव-हृदय का कृत्रिम रोशनी के सहारे अविष्करण ही साहित्य है और यह रोशनी प्राकृतिक रोशनी में कहीं आधी है, कारण कि हम इच्छानुसार इसे जहाँ चाहें ले जा सकते हैं। अतः उपन्यास के पात्र कैसे भी हों—दिव्य, अदिव्य या दिव्यादिव्य, वे कैसी भी शक्ति से सम्पन्न हों—सागर को बाँध देनी वाली या हिमगिरि को हिला देने वाली; कहीं भी किसी भी परिस्थिति में हों—नीलम देश की राजकन्या के साथ या अत्याचारी राक्षस के साथ, आसाम की जादूगरनियों के हाथों भेड़ा बनकर या किसी परी देश का राजा बनकर; पर एक बात नहीं हो सकती, और वह यह कि वे मानव को छोड़ कर अमानव नहीं हो सकते। उनकी नियति का पथ मानवीय होगा; उनकी गति वही होती है जो मानव की होती है।

माना कि कथा साहित्य की उत्पत्ति मनुष्य की कौतूहल-वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए ही हुई होगी, पर यह कौतूहल-वृत्ति थोड़ा आगे बढ़ते ही मानव के भाग्य को, उसके आचरण को, उसके सुख-दुःख के स्वरूप को पहचानने की प्रवृत्ति में परिणत हो गयी। उसी समय साहित्य का जन्म हुआ होगा। हो सकता है, कथा आरम्भ में कथा-मात्र रही हो, मानवीय और अमानवीय सभी उपकरणों को अपने यहाँ स्थान देती रही; यह भी हो सकता है कि वह मानवीय और अमानवीय दोनों को बराबर प्रधानता या अमानवीय तत्व को अधिक प्रधानता देती रही हो, पर यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही होगी। वह कथा साहित्य

का युग नहीं रहा होगा; वह युग रहा होगा कथा—(Fable) मात्र का, केवल कथा सुन-सुनाकर कौतूहल शान्त कर देने वाला। पर जिस दिन अमानवीय तत्वों की स्थिति अपने यहाँ बनाये रखते हुए भी मनुष्य की दिलचस्पी मनुष्य में अर्थात् अपने में बढ़ने लगी होगी और यह संस्कार उगने लगा होगा कि इनका आस्तित्व मानव में कोई शिथिल भाव या क्रिया-तरंगों को जगा देता है; उसी दिन कथा-साहित्य के प्रथम सुप्रभात का आविर्भाव हुआ होगा, उसी दिन कथा-साहित्य से प्रथम प्रकाश किरणें देखी होगीं।

पहले मनुष्य कथा सुनता होगा, इस कान से सुनकर दूसरे कान से उड़ा देता होगा ? सस्ते कौतूहल के सिवा कोई ऐसा तत्व नहीं था जो उसे कथा के साथ सम्बद्ध किये रहे। उस तमन्ना के निकल जाने के बाद कोई मलाल ही नहीं रह गया। अब उस कथा को कौन पूछे ? बाद में लोग कथा को बारबार पढ़ने लगे होंगे, कम से कम एकाधिक बार। उसमें उन लोगों को कोतूहल-शान्ति के अतिरिक्त जीवन के अधिक गहरे और चिरस्थायी स्तर की वृतियों के सन्तोष का साधन मिलने लगा होगा। संभव है, कथा हमें नीति का पाठ पढ़ाकर समृद्ध करती हो या कथा में प्रयुक्त शब्दों की योजना, चुभती हुई कल्पना, इतनी सजीव हो; भावों और विचारों का मूर्ति-विधान इतना सशक्त हो कि कथा एक विचित्र महत्व और मूल्य से समन्वित हो उठे और तब वह भी समय आ जाय कि कथा को एक-दो बार पढ़ने की बात कौन कहे, "राम कथा जिन सुनत अघाहीं, रस विशेष जाना तिन नहीं" की स्थिति उत्पन्न हो जाय !

David Daichies ने अपनी पुस्तक A Study of Literature में कथा के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण विचार उपस्थित किये हैं। उन्होंने कहा है कि अखबारनवीसी और कथा-साहित्य दोनों में यद्यपि कुछ सामान्य तत्व हैं। यद्यपि दोनों के उपकरण एक ही हैं और दोनों कुछ दूर तक साथ चलते भी हैं। फिर भी आगे चलकर वे एक दूसरे से एकदम पृथक् हो जाते हैं। कल्पना कीजिये कि पत्रकार और साहित्यकार दोनों एक नगर के चतुष्पथ के वर्णन में प्रवृत हुए। स्पष्ट है कि पत्रकार को अपने ऊपर किसी-न-किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना ही पड़ेगा, वह लाख मूड़मारकर भी चतुष्पथ को प्राकृतिक रूप में वर्णित नहीं कर सकता। पहले तो उसे यही तय करना पड़ेगा कि पथ का मतलब क्या ? ये बड़े-बड़े-प्रासाद ! यह विशाल जन-प्रवाह ! ये तांगे, मोटर, जुलूस, आपस में लड़ने वाले कुत्ते या गधे या वह पागल प्रेमी जो अपनी प्रेमिका के पीछे मजनू बना फिर रहा है उसे अपना दृष्टिकोण ठीक करना होगा। इसके बाद ही वह चतुष्पथ को भाषा के माध्यम से बोधगम्य रूप में उपस्थित कर सकेगा, जिसे पढ़कर पाठक उसे पहचान सके, समझे कि सच्ची सड़क है, जिसे हम जानते हैं या जान सकते हैं। पत्रकार एक और काम कर सकता है कि उसके नगर चतुष्पथ का वर्णन इतना सजीव हो, सशक्त हो, अभिभूत करने वाला हो कि पाठक ने भले ही उस तरह के पथ को देखा न हो, उसकी बुद्धि ना-ना करती रहे कि इसी बीच पथ की सत्यता उसके हृदय में घर कर ले, उसका हृदय मानो उसे अपना ले "आजा, भाई, लोग

भले ही उल्टा-सीधा समझते रहें पर हे पथ, तू तो मेरे हृदय-देश से ही होकर निकलता है।" यही पर पत्रकार पत्रकारिता के क्षेत्र को लांघकर साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करता है।

कहा जाता है कि तीन उड़ान में तीतर पकड़ा जाता है। साहित्य के तीतर को पकड़ने के लिए भी यहां तीन उड़ाने लेनी पड़ी हैं। पत्रकारिता और साहित्यिकता के बीच जो दूरी है, उसकी पहली मंजिल उस समय तय हुई, जब पाठक के मन में यह संस्कार जमा कि अरे यह मेरी जानी सुनी हुई चीज है। दूसरी मंजिल उस समय समाप्त हुई जब पाठक ने महसूस किया कि वर्ण्य-वस्तु भले ही पूर्व-परिचित न हो, पर इसका ज्ञान हमारे ज्ञान का सजातीय है, इससे मिलता-जुलता है। यदि स्वतन्त्र रूप से भी हम विचार करते तो वहीं पहुंचते। हम लेखक के कृतज्ञ हैं कि उसने हमारे मन की प्रकृति पहचान कर उसे लक्ष्य प्राप्ति में थोड़ी सहायता की। तीसरी और अंतिम मंजिल तब आती है, जब लेखक पाठक के लिए अज्ञात और अज्ञेय क्षेत्र को भी इस तरह पेश करता है कि वह एक सत्य और वास्तविक लगने लगे। परन्तु इस बिन्दु पर आते-आते लेखक एक बोधगम्य जानी-सुनी ग्राह्य कथा कहकर ही नहीं रह जाता। अपनी शैली, घटनाओं की सजावट तथा शब्द-सौष्ठव के द्वारा पाठक को ऐसी मनःस्थिति में पहुंचा है देता कि वह घटनाओं को सीमित न देखकर मनुष्य के भाग्य के साथ सम्बद्ध देखे, वे संकेत बन जाय और मानवता की विराट् झांकी लेने के लिए वातायन बन जाय।" त्रियाचरित्रं पुरुषस्य भाग्यं" भले ही "दैवो न जानाति" पर उपन्यास के पढ़ने वाले साहित्यिक ज्योति-सम्पन्न पाठक की दिव्य दृष्टि के सामने सारा विश्व अपने रहस्यों को खोलकर रख देता है। ऐसी अवस्था में इस प्रश्न की आवश्यकता ही नहीं होती कि कथाकार ने अपनी कथा मे तथ्य का उपयोग किया है कि गल्प का।

पत्रकार भी शब्दों का प्रयोग करता है, उन्हीं शब्दों का जो साहित्यिक के काम आते हैं। परन्तु उनके प्रयोग करने के ढंग तथा उनके प्रभाव में अन्तर होता है। पत्रकार की कलम से क्रमशः शब्द टपकते तो हैं पर ज्यों-के-त्यों पड़े रहते हैं, चुपचाप निस्पन्द। वे अपने काम में सफल भी होते हैं वर्ण्य, वस्तु का चित्रण भी कुशलता से करते हैं, पर इतना ही करके रह जाते हैं, मानो उनकी सारी शक्ति निशेष हो गयी। पर साहित्यिक की लेखनी से शब्द टपकते हैं, तो मानो पाठक के मस्तिष्क रूपी जलाशय में कंकड़ी पड़ती है, शान्त सरोवर में निरन्तर प्रगतिशील लहरों की शृंखला बँध जाती है, और बातें भले ही जानी पहचानी हों, पर नये-नये प्रसंग में आकर नये-नये अर्थों से समन्वित हो जाती हैं, हममें नयी अनुभूतियां जगाती हैं, और हमारे जीवन को समृद्धतर करती चलती हैं।

अतः नगर पथ के वर्णन का बीड़ा उठाकर चलने वाला व्यक्ति, यहां कह लीजिये पत्रकार। स्कूल से आते-जाते बच्चों की बातें कहे किसी बैंक से निकलते हुए व्यापारी का उल्लेख करें, रिरियाते कुत्ते; आवारागर्द नौजवानों; गोदाम में ठसाठस भरे माल, या मछली वेचने वाली बुढ़िया की कैंची की तरह मार करने वाली जबानदराजी का वर्णन करे, अर्थात् जो मन में आये कहे; पर जहां से घटनाएँ अपने समान धर्म तत्व का परिचय देने लगती हैं अपने शुद्ध व्यक्तित्व की सीमा को लांघकर विराट् झांकी देने लगती हैं; हम अन्दर से

समृद्धतरता का अनुभव करने लगते हैं, हम घटनाओं को जीवन की गंभीरतम ससस्या तथा गहराई के अंग के रूप में देखने लगते हैं, अंगूर में रखी पानी की दो बूँदे खिचकर तलवार बन जाती हैं, वहीं साहित्यिकता का अवतार होता है ; वहीं पर घटनाएँ तथ्य या गल्प दोनों से आगे बढ़कर साहित्य का अंग बन जाती हैं और उपन्यास का स्वरूप खड़ा हो जाता है। उपन्यासकार के Disposition of Fable तथा शैली ने वह करामात की है कि पत्रकार की या ऐतिहासिक के सूखे फैक्ट अथवा कल्पना की गीली उड़ाने दोनों कट-छँट कर सुशोभित हो गयी हैं, बन्धन स्वीकार करना पड़ा है। पर इसी बन्धन ने उन्हें असीम बना दिया है। अपनी स्वाभाविक अवस्था में चीजें बिखरी पड़ी रहती हैं, कोई सद्दोश्यता उनमें नहीं रहती, उनमें परस्पर विरोधी तत्वों का प्रदशन होता रहता है और वह दर्शन चित्त को आश्वस्त नहीं कर पाता। पर साहित्य के हाथों : मंज सवरकर शब्द के बन्धन को स्वीकार कर वे लक्ष्योन्मुख हो जाती है, विरोधी सत्ता जड़ जाती है वस्तु स्पष्टतर हो जाती है। एक ओर तो इस तरह उन पर सीमा का बन्धन आजाता है, पर वे ही शब्द और अर्थ के बन्धन "उपसर्जनीकृत-स्वार्थं" होकर अपने को इस तरह घुला-मिला देते हैं, अपने को खाक में मिला देते हैं कि उनके अंजन से

यथा सुअंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहि शैल वन भूतल भूरि निधान।।

यही हमारा साहित्यिक उपन्यास है। यह आत्मबोध जगाने के साथ ही आत्म प्रकाश देता है। पर इतना ही भर होकर नहीं रह जाता, हमारे अन्दर एक ऐसा प्रकाश भर जाता है कि जीवन के रहस्य उभदासित होने लगाते हैं। आत्म बोध और आत्म-प्रकाश दोनों क्रियाएँ साथ-साथ होती हैं। इस क्रिया के यौगपत्य को खूब ठीक से समझना चाहिये। उपन्यास की घटनाएँ, पात्र इत्यादि सांकेतिक होते हैं। यह सांकेतिकता अभिव्यक्ति के माध्यम से निष्पन्न होती है, जिसके साथ आत्मबोध भी लगा चलता है। केवल आत्म प्रकाश को ही साहित्य नहीं कहते और न केवल आत्मबोध को ही। दर्शन के ग्रन्थ से प्रकाश मिल सकता है, पर वह आत्म प्रकाश नहीं ! उसमें आत्मीयता का बोध नहीं, प्रत्यभिज्ञान नहीं। इन दोनों का संगम तो साहित्य में ही उपन्यास में ही सम्भव हो सकता है।

१४

हिन्दी एवं उपन्यास के प्राधन तत्व एक आलोचनात्मक अध्ययन

प्रो० होतीलाल भारद्वाज

मौलिक साहित्य की विभिन्न विधाओं के स्वरूप में समय एवं जीवन के विकास के साथ परिवर्तन आना स्वाभाविक है। यदि साहित्य में यह परिवर्तन न आ पाए तो उसके विकास का पठार (Plateau) आ जाएगा और साहित्य जीवन से पिछड़ जाएगा। किन्तु साहित्यकार ऐसा होने नहीं देता। पठार अथवा गतिरोध अल्पकाल के लिये आ भी सकता है किन्तु साहित्यकार शीघ्र ही उसे तोड़ कर प्रवहमान बना देता है और साहित्य की गति जीवन के समानान्तर हो जाती है। जैसे-जैसे साहित्य-विधाओं के स्वरूप में परिवर्तन आता है वैसे ही तत्सम्बन्धी आलोचना के मान भी बदल जाया करते हैं। आलोचना के मान मौलिक-साहित्य-सर्जन के पश्चात निर्मित होते हैं। क्योंकि मौलिक-साहित्य में कभी ठहराव (Static) नहीं आता अतः आलोचना के मान भी परिवर्तनशील होते है।

कहानी एवं उपन्यास दोनों विधाओं का हिन्दी में इतिहास अधिक पुराना नहीं है किन्तु दोनों ही विधाओं की प्रगति बहुत तीव्र रही है। आज हिन्दी का कहानी एवं उपन्यास साहित्य विश्व की समृद्ध भाषाओं के कहानी तथा उपन्यास साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रगति की इस धारा के पूर्व प्रेमचन्द्र युगीन कहानियों तथा उपन्यासों की तुलना यदि प्रेमचन्द युगीन कहानियों एव उपन्यासों से करें तो अन्तर सहज ही स्पष्ट हो जाएगा। यही बात प्रेमचन्दोत्तर कथा साहित्य के साथ भी लागू होती है। स्वतन्त्रता के पश्चात की कहानी एवं उपन्यासों में रूप, शिल्प, कथा आदि की दृष्टि से पर्याप्त परिवर्तन आ गये हैं। प्रेमचन्द के युग तक क्या सन् १९५० तक कथानक कहानी का आधारभूत तत्व था। जब कि आज की कहानी कथाहीनता (अकहानी) के मोड़ पर आ पहुंची है। पुरानी कहानी में कथानक विकास की सबसे महत्वपूर्ण स्थिति होती थी—चरमसीमा। किन्तु आज की कहानी में जब कथानक ही नहीं रहा तो कथानक विकास की विभिन्न स्थितियों की बात करना ही व्यर्थ है। वर्तमान कहानी में चरमसीमा या तो आती ही नहीं या कहानी चरमसीमा से प्रारम्भ होकर चरमसीमा में ही समाप्त हो जाती है। यह बात उपन्यासों के साथ भी है।

इन दोनों ही विधाओं में जटिलता का समावेश हुआ है। कथाकार किस्सा गोई से हटकर सूक्ष्म निरीक्षण की ओर बढ़ता है। 'एक था..................' से प्रारम्भ होने वाली तथा 'जैसे सबके दिन फिरे' 'वैसे सबके दिन फिरें' वाली प्रणाली तो बहुत पहले दफनाई जा चुकी थी किन्तु प्रेमचन्द तक किसी समस्या को उठाकर उस पर निर्णय देने का आग्रह कथा-

का बना रहा। किन्तु आज के कथाकार को वह भी स्वीकार नहीं रहा। अब कथाकार किसी भी स्थिति अथवा समस्या को तटस्थ एवं ईमानदार होकर व्यक्त करनेमें अधिक विश्वास करते हैं। असद् पर सद् की विजय, पाप पर पुण्य की विजय जैसे सामाजिक आदर्श भी कथाकार के लिये मापदण्ड नहीं रह गये हैं।

यह सब हुआ इसलिये कि हमारी जीवन-पद्धति में बुरी तरह परिवर्तन आए। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के उन्मेष ने हमारे मस्तिष्क पर चढ़ी सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक परतों को खुरच डाला; औद्योगिक विकास ने परम्परागत मानव सम्बन्धों को विघटित कर नयी जीवन-विधि हमें दी; फ्रायड, कार्ल मार्क्स, सार्त्र जैसे विद्वानों के चिन्तन से प्रभावित होकर मानव को अपनी सर्वोपरि सत्ता का बोध हुआ; परम्परागत सांस्कृतिक, सामाजिक और परिवारिक मूल्य विघटित हुए; अनास्था का स्वर मुखरित हुआ; स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आ जाने के कारण स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में भी बदलाव आया। जनसंख्या-वृद्धि एवं बेरोजगारी और बढ़ती आर्थिक विपन्नता ने जीवन को अधिक व्यस्त एवं मशीनी बनाया। जीवन के इन समस्त परिवर्तनों को कहानी और उपन्यास दोनों विधाओं ने बहुत गहराई से अन्तर्भुक्त किया है। इन सारे परिवर्तनों की स्वीकृति के बाद कहानी एवं उपन्यास में जटिलता आना अजूबे की बात नहीं है।

पश्चिम के प्रभाव से बहुत सी नयी विधाओं के मार्ग भी हिन्दी के साहित्यकारों के लिए खुले—जैसे रेखाचित्र, रिपोर्ताज, आत्मकथा, जीवनी, डायरी आदि। वर्तमान साहित्यकारों ने विभिन्न विधाओं के बीच की सीमा रेखाओं (Demarcation Lines) को तोड़ा है। इसीलिए आज कहानी रेखाचित्र शैली में लिखी जा सकती है तो उपन्यास आत्मकथात्मक। ज्ञानरंजन की 'पिता' कहानी रेखाचित्र है तो डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास आत्मकथात्मक।

अस्तु, जब हम कहानी एवं उपन्यास के प्रधान तत्वों की चर्चा करते हैं तो परम्परागत तत्व ही समक्ष आते हैं। अभी तक परम्परागत तत्व ही कहानी एवं उपन्यास के मान बने हुए हैं जब कि वर्तमान कहानी एवं उपन्यास के संदर्भ में इन तत्वों की संगति नहीं बैठती। रांगेय राघव की एक कहानी है 'कुत्ते की दुम और शैतान, नये टैकनीकल'। यदि इस कहानी की आलोचना कहानी के परम्परागत तत्वों के आधार पर की जाए तो एक तत्व की भी तार्किक समाविष्टि इस कहानी में नहीं मिलेगी। इसी प्रकार धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवां घोड़ा', अज्ञेय के 'अपने-अपने अजनबी', प्रयोगवादी उपन्यासों 'ग्यारह सपनों का देश', 'एक इंच मुस्कान' आदि को उपन्यास के परम्परागत तत्वों के फ्रेम में रख कर देखना असंगत होगा।

कहानी और उपन्यास के तत्व

आलोचकों ने सम्पूर्ण कथा-साहित्य के ६ प्रधान तत्व माने हैं—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण (पात्र), संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। हडसन ने उद्देश्य के स्थान पर जीवन-दर्शन को उपन्यास का एक तत्व माना है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि द्वन्द्व या संघर्ष

(Conflict) तथा कौतूहल या द्वंधाभास (Suspense) कथा के अलग तत्व हैं । कहानी का कैनवैस उपन्यास की अपेक्षा काफी छोटा होता है अतः कहानी में इन सभी तत्वों का समाहन अधिक सूक्ष्म एवं संयत होगा । कुछ लोग स्वीकार करते हैं कि द्वन्द्व तथा कौतूहल अलग तत्व न होकर रचना-शैली के ही अंग है । अब इन तत्वों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विश्लेषण अपेक्षित है ।

कथानक—कथा-साहित्य का सबके महत्वपूर्ण तत्व माना गया है—कथानक । कथानक के अन्तर्गत वे सारे उपकरण आ जाते हैं जिनसे कहानी या उपन्यास का ढांचा तैयार होता है । कथा-सूत्र (Theme), मुख्य-कथानक (Plot), प्रासंगिक कथाएँ (Episodes), उप कथानक (under Plot) तथा अन्य प्रामाणिक संदर्भ (Documents) कथानक के विभिन्न उपकरण होते हैं । उपन्यास में इन सभी उपकरणों को सरलता से एवं विस्तार से समाहित किया जा सकता है किन्तु कहानी में कथा-सूत्र तथा मुख्य कथानक ही कथावस्तु के उपकरण बन सकते हैं । प्रासंगिक कथाओं की भी कहानी मे अधिक गुंजाइश नहीं है ।

आचार्यों के अनुसार कथानक का विकास बहुत स्वाभाविक एवं रोचक होना चाहिए । विभिन्न घटनाओं को इस प्रकार बुना जाए कि कथा-प्रवाह में किसी प्रकार का व्यवधान न आ सके । कथा-प्रवाह की दृष्टि से कथानक के विकास की विभिन्न स्थितियाँ भी स्वीकार की गयी हैं—प्रारम्भ, विकास, चरम सीमा एवं अन्त ।

किन्तु वर्तमान कहानी एवं उपन्यास साहित्य में कथानक की इन सारी विशेषताओं को पा लेना सम्भव नहीं है । अज्ञेय की 'रोज' कहानी उदाहरण के लिये ली जा सकती हैं । उसमें कथानक है ही नहीं । उसमें तो एक स्थिति है, वातावरण है ऊबभरा, जो पाठक के मन पर गहरा प्रभाव छोड़ता है । अज्ञेय का 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास में भी कथानक बहुत क्षीण है और उसका विकास भी विभिन्न स्थितियों के अनुसार नहीं हुआ है । रेणु के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आंचल' में कथानक की विभिन्न विशेषताएँ नहीं मिल सकती । डॉ० देवराज के 'अजय की डायरी' उपन्यास नाम से डायरी होने के बावजूद, मे कथानक का क्रम क्षीण तो नहीं है किन्तु घटनाओं का संयोजन विचित्र ढंग से किया गया है । कथानक की दृष्टि से भिन्नताएँ लिए हुए ऊपर बताई गयीं कथा कृतियाँ साहित्य में महत्व-पूर्ण स्थान रखती हैं । आज की कहानी तो अकहानी बनकर कथानक की उपस्थिति को ही नकार रही है , इसका अर्थ यह हुआ कि कथानक किसी कहानी या उपन्यास का आवश्यक तत्व नहीं है ।

लेकिन कथाकृति का कोई न कोई आधार तो होगा ही—चाहे वह कोई घटना हो, भाव हो, विचार हो या संवेदना हो । अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में 'अहं' (Self or Ego) की, 'नदी के 'द्वीप' में 'यौन' (Sex) की तथा 'अपने-अपने अजनबी' में मृत्यु भय की (Death) अभिव्यक्ति हुई है । इस प्रकार तीन प्रवृत्तियाँ इन उपन्यासों का आधार हैं । प्रथम दो उपन्यासों में तो फिर भी कथानक के विभिन्न उपकरण विद्यमान हैं किन्तु 'अपने-अपने अजनबी' में तो कथानक बिल्कुल क्षीण है । किन्तु उसकी गहन संवेदना मन पर गम्भीर

प्रभाव छोड़ती है। रांगेय राघव की 'कुत्ते की दुम और शैतान' नये टेकनीक्स' कहानी में भी कथानक के नाम पर हलका सा मजाक है। सीधा सा अर्थ यह है कि कथाकार कथानक के मामले में सूक्ष्मता की ओर प्रयाण कर रहे हैं और घटनाओं की अपेक्षा भाव, विचार, मानवीय संघर्ष, संवेदना कहानी और उपन्यास के उत्पाद्य बनते जा रहे हैं। अतः कथानक के स्थान पर 'मूल-संवेद्य' अथवा 'मूल-भाव; कहानी और उपन्यास का एक तत्व स्वीकार किया जा सकता है।

पात्र या चरित्र चित्रण—कहानी तथा उपन्यास ही क्या साहित्य की सभी विधाओं की शिराओं में मानव-जीवन-रक्त ही प्रवाहित हुआ करता है। यदि किसी कथाकार ने मानव से हटकर किसी अन्य प्राणी को कथा का पात्र बनाया है तो भी मानवीय-भावनाओं का ही चित्रण किया है। प्रेमचन्द ने हीरा-मोती दो बैलों को कहानी के पात्रों के रूप में चित्रित किया किन्तु कहानी के दोनों बैल 'पशु' न होकर अपने स्वामी के परिवार के सदस्य हैं, उसमें सुख-दुख के साथी हैं। यही बात जैनेन्द्र की 'एक गाँ' कहानी में भी चरितार्थ हुई है। इस कहानी की गाय पाठक के लिये मानव जीवन में व्याप्त स्नेह-तन्तुओं का साकार रूप बन जाती है।

पात्र अथवा चरित्र चित्रण कथा का एक महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। शायद ही कोइ कथा,कृति ऐसी मिले जिसमें पात्रों का अभाव हो। स्त्री पुरुष के रूप मे पात्र का अभाव मिल भी सकता है, उनकी संख्या भी न्यूनतम हो सकती है किन्तु पात्रों की भावनाओं से रहित कथाएँ मिलना कठिन है। वर्तमान कहानी एव उपन्यासों म ऐसा प्रतीत होता है कि पात्र खोते जा रहे हैं। पात्र 'मैं' अथवा 'वह' का रूप धारण करते जा रहे हैं। उनके नाम गायब हैं, उनके रंगरूप गायब हैं किन्तु उनका जीवन गायब नहीं है। इसका कारण यह भी है कि कथाकार की एप्रोच पात्रों के अन्तर में प्रयाण कर उसकी आंतरिक मन स्थितियों, मानसिक संघर्षों के चित्रण की ओर है। 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास में कुल तीन या चार पात्र हैं। कहानियां तो ऐसी अनेक हैं जिनमें केवल ऐक ही पात्र है।

पात्र या चरित्र-चित्रण के संदर्भ में एक उल्लेखनीय प्रश्न और है—शास्त्रीय दृष्टि से कथा में नायक, नायिका, सहनायक आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। कथा में मुख्य-पात्र एक होता है। कथा की सारी घटनाएँ उसी से सम्बद्ध होनी आवश्यक हैं। किन्तु वर्तमान कथाकारों ने इस व्यवस्था में भी परिवर्तन कर दिया है। विशेष रूप से कथाओं में नायक की समस्या तो समाप्त ही हो गयी है। रेणु के 'मैला-आंचल' उपन्यास का नायक किसे माना जाय। बंगला उपन्यासकार शंकर के 'अनजाने' उपन्यास में यद्यपि पात्रों की तो भरमार है किन्तु कोई भी मुख्य-पात्र नहीं, कोई भी मुख्य घटना नहीं।

कहानी एवं उपन्यास में पात्र अथवा चरित्र-चित्रण एक महत्वपूर्ण तत्व है किन्तु कथाकारों की प्रवृत्ति विशिष्ट पात्रों से हटकर समग्र मानव जीवन चेतना के चित्रण की ओर है। अतः यदि पात्र या चरित्र-चित्रण के स्थान पर इसे मानव-जीवन नाम दे दिया जाय तो अधिक समीचीन होगा। पात्र अपने आप उसमें आ जाएँगे।

संवाद—आलोचक संवाद अथवा कथोपकथन को कहानी एवं उपन्यास का एक तत्व मानते हैं। संवाद कथा के विकास में, चरित्र-चित्रण में, विभिन्न स्थितियाँ स्पष्ट करने में, कथा में रोचकता उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। आचार्यों के अनुसार संवाद छोटे हों, चुस्त हों, कथा-विकास में सहायक हो, पात्र एवं परिस्थिति के अनुकूल हों, अधिक लम्बे व ऊबाने वाले न हों।

संवादों की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि किसी कहानी अथवा उपन्यास में संवाद हों ही। पाश्चात्य साहित्य में ऐसी कथा-कृतियों की रचना हुई हैं जिनमें सारी कथा को एक ही पात्र कह देता है, बीच में अधिक संवादों की आवश्यकता ही नहीं होती। नरेश मेहता के उपन्यास और कहानियों में संवादों का प्रयोग अधिक नहीं होता। यही प्रवृति निर्मल वर्मा की कहानियों में भी है। किन्तु फिर भी इन लेखकों की रचनाओं में शिथिलता नहीं पायी जाती और संवादों को कमी भी नहीं खलती।

मैं संवाद को कहानी का एक अलग तत्त्व नहीं मानता। संवाद रचना कौशल का ही एक अंग है। यह कथाकार के ऊपर निर्भर करता है कि वह अपनी रचना में संवाद का प्रयोग करे अथवा नहीं। संवादों के अभाव में भी यदि रचना के प्रभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता तो अभी आवश्यकता भी क्या है। यों पूरी की पूरी कहानी को ही संवाद-शैली में प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः संवाद को एक अलग तत्व न मानकर रचना-शैली का अंग ही माना जाना चाहिए।

देशकाल अथवा वातावरण—पात्रों एवं घटनाओं को ठीक प्रकार समझने के लिये उनकी परिस्थितियों को समझना आवश्यक होता है। साहित्यकार अपनी रचनाओं में भूत-काल में जीता है, वर्तमान को भोगता है और भविष्य के स्वप्न देखता है। किन्तु जिस समय विशेष के पात्रों एवं घटनाओं का चित्रण कहानी या उपन्यास में किया गया है उसकी राज-नैतिक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण करना कृति के प्रभाव को और भी गहरा कर देता है। पात्रों के क्रिया-कलापों को और अधिक स्पष्ट करने के लिये अनुकूल वातावरण की सृष्टि कथाकार करता है। देशकाल तत्व ऐतिहासिक कथाओं के संदर्भ में ही अधिक महत्त्व रखता है। क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से कहानी या उपन्यास में किसी प्रकार का काल एवं देश से सम्बन्धित व्यतिक्रम नहीं होना चाहिए। वस्तुतः देशकाल तो तत्त्व न होकर कथा की एक सीमा है, मुख्य बात वातावरण को लेकर है।

किन्तु वातावरण को हमें एक और दृष्टि से भी देखना चाहिए। डॉ० शिवप्रसादसिंह के शब्दों में, "अपने बाहर, और मानवीय अस्तित्व को छोड़कर, दूसरा जो भी है, पदार्थ हैं, वस्तुएँ हैं।" सामूहिक रूप से इन सबको वातावरण का नाम दिया जा सकता है। मानव एवं इन पदार्थों के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध (Harmony) होती है। साहित्यकार इस सम्बन्ध को रचना में व्यंजित करता है। जब हम वातावरण तत्त्व के आधार पर कहानी अथवा उपन्यास की समीक्षा करते हैं तो हमारा यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि हम मानव

और वातावरण के सम्बन्धों को भी महत्त्व दें, उन्हें भी कहानी एवं उपन्यास में समझने की कोशिश करें। डॉ० शिवप्रसादसिंह ने अपने कहानी संग्रह 'मुरदा सराय' की भूमिका में इस बात की ओर संकेत किया है।

शैली— कहानी अथवा उपन्यास का रचना कौशल अथवा कलापक्ष से सम्बद्ध तत्त्व शैली कहलाता है। कलाकार अपने कथा को किस प्रकार प्रस्तुत करे ? हर कथा को एक-ही ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जिस कलाकार के पास कथ्य के अनुकूल शैली नहीं है वह कभी भी उच्चकोटि की रचना नहीं दे सकता। रचना की काफी सफलता उसकी शैली पर निर्भर करती है। भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की कहानी में कुछ भी नवीनता नहीं है किन्तु उसे जिस ढंग से प्रस्तुत किया गया है उसी से यह उपन्यास महत्वपूर्ण कृति बन गया है। कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' की शैलीगत विशेषता के कारण ही इतनी ख्याति पा सकी। रांगेय राघव की 'कुत्ते की दुम और शैतान : नये टैकनीक्स' कहानी में शिल्प-सौन्दर्य के अतिरिक्त है ही क्या ? किन्तु 'गदल' कहानी के लिये वे इस शिल्प को नहीं अपना सकते थे।

शैली-तत्व के अन्तर्गत ही कहानी और उपन्यास में भाषा-सौन्दर्य, प्रतीकात्मकता, संवाद, अन्तर्कथाएँ, फ्लेश-बैक, आ जाते हैं। डायरी, पत्र, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताजि, आत्मकथा, जीवनी आदि विधाओं में से किसी में भी कहानी अथवा उपन्यास को प्रस्तुत किया जा सकता है। कभी रचना उत्तम पुरुष में होती हैं तो कभी अन्य में। यह कथाकार पर निर्भर करता है कि वह किस विधि के द्वारा अपनी रचना को अधिक प्रेषणीय बना सकता है। एक ही रचना में कई विधियों का प्रयोग भी किया जा सकता है। एक ही कृति में लेखक को सभी वर्णन करने पड़ते हैं, कभी विवरण तो कभी नोट्स देकर ही काम चलाना पड़ता है। शैली अथवा शिल्प का कार्य है कथा को प्रभावशाली ढंग से पाठक तक पहुँचाना। 'अजय की डायरी' उपन्यास डायरी शैली में जितना प्रभावशाली बन पड़ा उतना किसी अन्य शैली में शायद नहीं बन सकता था।

उद्देश्य—हडसन ने शायद इसी तत्व को जीवन-दर्शन का नाम दिया है। कोई कृति क्यों लिखी गयी ? इस प्रश्न का उत्तर ही उसका लक्ष्य होता है। वैसे भी उद्देश्य शब्द कुछ अस्पष्ट (Vague) है। कृति को क्यों लिखा गया ? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'स्वांतः सुखाय' अथवा 'अभिव्यक्ति की मानव-सुलभ तृष्णा' अथवा 'कला-कला के लिये' मान लिया जाए तो ? वस्तुतः उद्देश्य सामाजिक शब्द है और जब हम यह मान कर चलते हैं कि प्रत्येक कहानी या उपन्यास का एक उद्देश्य होता है तो इसका अर्थ होता है उस रचना की सामाजिक-उपयोगिता। जब कि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक रचना सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हो ही। मैं यह भी नहीं मानता कि किसी उपन्यास या कहानी की रचना शून्य के लिये ही हैं। किन्तु उद्देश्य को अलग तत्व न मानकर मूल-संवेदना अथवा मूलभाव का ही एक अंग मान लिया जाए। जब हम किसी कृति की मूल संवेदना पर विचार करते हैं। तभी यह स्पष्ट हो

जाना चाहिए कि लेखक ने इस संवेदना का किस लक्ष्य को ध्यान में रखकर अभिव्यक्ति दी।

थोड़ा गहराई से सोचें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि आलोचकों ने कहानी एवं उपन्यास के जिन तत्वों की चर्चा की है वे सब एक पक्षीय हैं। कथानक, पात्र, संवाद, वातावरण, शैली, उद्देश्य, तत्व, कृति एवं कृतिकार से ही सम्बद्ध हैं। बेचारा पाठक कहाँ रहा ? कृतियों पर पाठक की दृष्टि से भी तो विचार होना ही चाहिए।

पाठक की दृष्टि से कहानी और उपन्यास का क्या तत्व हो सकता है ? पाठक कोई कृति क्यों पढ़ता है ? सीधा सा उत्तर है—मनोरंजन के लिये, समय काटने के लिये, ज्ञान-वर्धन के लिये। किन्तु इन सबसे ऊपर भी एक और चीज है जिसे बौद्धिक पाठक-अनुभव करता है—कृति का प्रभाव। पाठक के मस्तिष्क पर कृति का क्या प्रभाव पड़ सकता है ? पाठक उस प्रभाव को किस प्रकार ग्रहण करता है ? इन दृष्टिओं से भी कहानी अथवा उपन्यास पर विचार होना चाहिए। अतः पाठकों की दृष्टि से प्रभाव कहानी तथा उपन्यास का स्वतंत्र तत्व माना जा सकता है। जब हम कृति से कृतिकार तक पहुँच सकते हैं तो कृति से पाठक तक पहुँचने की कोशिश क्यों न करें।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि कहानी तथा उपन्यास के प्रधान तत्व ये हैं :

(१) मूल-संवेदना—इसमें रचना का उद्देश्य भी आ जाता है।
(२) मानव-जीवन (पात्र या चरित्र-चित्रण)
(३) वातावरण
(४) शैली
(५) प्रभाव

इन तत्वों को हम हिन्दी के सम्पूर्ण कथा साहित्य के लिये स्वीकार कर सकते हैं।

———

१५

हिन्दी निबन्ध की परिभाषा एवं साहित्य में स्थान

निबन्ध गद्य साहित्य की एक विशिष्ट विधा है; जिसके लिये हम पश्चिम के ऋणी हैं। 'निबन्ध' शब्द संस्कृत का है जिसका शाब्दिक अर्थ 'सुव्यवस्थित बंधा हुआ' 'विशेषरूप का बन्धन'। धीरे धीरे इस शाब्दिक व्याख्या में 'संगठन' एवं 'श्रृंखला बद्धता' का समावेश हुआ ! निबन्ध का वर्तमान रूप गद्य साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति अतीव अर्वाचीन है। प्राचीन काल में निबन्ध का प्रयोग पद्यमय रचनाओं के लिये होता था ! संस्कृत में निबन्ध के पर्यायवाची रूप 'गद्य-विधान', 'लेख', 'प्रबन्ध', आदि प्रयुक्त किये गये हैं। इन रूपों में 'लेख' विषय के व्यापक प्रसार के कारण निबन्ध का रूप माना जा सकता है, अन्य रूप नहीं।

वर्तमान काल में निबन्ध शब्द का प्रयोग अंग्रेजी 'ऐसे' (Essay) से लिया गया है; जिसका सामान्य अर्थ होता है अभिप्सित विषय के निरूपण का प्रयास (Attempt) ! यों तो अंग्रेजी में 'ऐसे' के मिलते-जुलते आर्टकिल (Article), थिसिका (Thesis), ट्रीटाइज (Treatise) आदि कई गद्य विधान हैं; लेकिन 'ऐस' इन सब में विशिष्ट रूप ग्रहण किये हुए है ! जिसको स्पष्ट करने का प्रयत्न जॉनसन एलैक्जेण्डरस्मिथ, हालवर्ड और हिल आदि कई विद्वानों ने किया है। यूरोप में निबन्ध के जन्मदाता 'मॉल्टेन' ने 'ऐसे' शब्द का अर्थ 'प्रयास मात्र' ही लिया है। उनका कथन है कि 'मेरी इस प्रकार की रचना साहित्य की एक विशिष्ट नूतन पद्धति का प्रयास मात्र है।' मॉटेन ने 'वैयक्तिकता' को प्रमुखता दी है। उन्होंने लिखा है कि 'निबन्ध विचार, उद्धरण तथा कथाओं का मिश्रण है।, वह निबन्ध की सार्थकता आत्मगत विचारों को अन्य तक पहुंचाने में मानते थे। वस्तुतः मॉन्टेन की परिभाषा निबन्ध के वर्तमान स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाती। प्रसिद्ध विद्वान लेखक बेंकन ने 'समुचित चिन्तन' को निबन्ध का प्रमुख तत्व माना है।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध निबन्धकार डा० जान्सन ने निबन्ध को 'असंगठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित अपचित रचना' कहा है (A loose sally of mind and irregular in digested piece of literature not a regular, and orderly performance of iterature) प्रारम्भ में अंग्रेजी निबन्ध का यह स्वरूप एवं शाब्दिक अर्थ अवश्य रहा लेकिन कालान्तर में लेखकों की रुचि सम्बद्धता, संगठन एवं बुद्धितत्व की ओर बढ़ती गई है।

'एलेक्जेण्डरस्मीथ' ने 'ऐसे' की परिभाषा निम्न दी है :—'The essay as a literary form resembles the lyric in so far as it is moulded by some central mood,

whimsical, serious or satirical. Give the mood and essay from the first sentence to the glows around it as the cocoon grows around the silk worm.'

उक्त परिभाषा में निबन्ध की प्रगति काव्य के समकक्ष ठहराया है जिसमें अनुभूति की विशेषता का दिग्दर्शन कराया गया है। तथा मानसिक स्थिति की केन्द्रित अवस्था पर अधिक जोर दिया गया है। इसी प्रकार 'हॉलवर्ड और हिल' नामक विद्वानों ने 'मनःस्थिति से प्रादुर्भूत प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति' को निबन्ध कहा है, जिसमें 'वैयक्तिकता' को प्रधान तत्त्व माना। इन विद्वान लेखकों ने निबन्ध को एक छोटी-सी रचना बताया है, जिसमें एक विचार या भाव केन्द्रित हो। विषय का स्वच्छन्द विवेचन हो तथा जिसमें बहुत-सी बातों का संग्रह किया जा सकता है किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं।

प्रसिद्ध निबन्धकार हेनरी हडसन ने भी 'निजीपन और व्यक्तित्व' को निबन्ध की प्रमुख विशेषता मानी है। उन्होंने लिखा है

'The true essay is essentially personal.'

इन परिभाषाओं से यह तो स्पष्ट है कि बाद में पाश्चात्य विद्वानों ने निबन्ध को व्यक्ति प्रधान रचना माना है। जिसमें विचारों की शृंखला बद्धता हो। विषय का पूर्ण ज्ञाता ही 'गागर में सागर' भरने की क्षमता रख सकता है। इसीलिये कहा है—

'A man is absolutely master of his subject—'or of saving much is little.'

निबन्ध की व्यापकता पर 'स्यूगवाकर' की उक्ति दृष्टव्य है:—

'There is no subject from the stars to the dust heap and from anoch to man, which may not be dealt with an essay,'

वैयक्तिकता, रोचकता तथा विषय व्यापकता को प्रमुखता देते हुए डबल्यू० ऐल० फैल्प्स ने निबन्ध के स्वरूप का निम्न विवेचन किया है:—

"It is an intimate confessional style of composition where the writer takes the reader into confidence and talks as it to any one listener ; talks to about things often essentially trivial and yet making that for the monent interesting by the charm of speakers manner."

उक्त परिभाषा में निबन्ध को स्वीकारात्मक रचना शैली मानते हुए रोचकता पर अधिक बल दिया है; जिसमें पाठक का विश्वास अर्जित करना आवश्यक है। इसी प्रकार ए० जी० गार्डनर ने भी वैयक्तिकता तथा विषय-व्यापकता पर अधिक बल दिया है। उन्होंने लिखा है कि।

"It is not so much that you have some thing you want to say as that you must say some thing. And after all what does the subject matter. Any peg will do to hang your hat on, That hat is the king."

गार्डनर महोदय के अनुसार निबन्ध का विषय कोई मामूली पदार्थ भी हो सकता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी साहित्य में निबन्ध रचना व्यक्तिगत होते हुए भी असम्बद्ध एवं अपरिपक्व विचार प्रस्तुत करती है; परन्तु ज्यों ज्यों निबन्ध का विकास हुआ, त्यों-त्यों उसमें संगठन एवं विषय की तारतम्यता की आवश्यकता अनुभव की गई तथा कालान्तर में 'संगठन' एवं विषय की तारतम्यता' निबन्ध का अपरिहार्य अंग बन गई। धीरे धीरे निबन्ध की महत्ता बढ़ती गई। उसकी परिभाषा के मान और मूल्य में वृद्धि हुई तथा आज हम अंग्रेजी निबन्धों का एक विशाल एवं व्यापक रूप पाते हैं। निबन्ध के परिवर्तित रूप की परिभाषा 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में दी हुई है जिसमें अब तक के विवेचित समस्त पहलुओं का दिग्दर्शन कराया गया है:—

"A composition of immoderate length on any particular subject or branch of subject originally implying want of finish, 'an irregular indigested piece', but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in Range."

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि निबन्ध (Essay) किसी विशेष विषय या उसकी शाखा पर लिखा हुआ एक मर्यादित साहित्यिक अंग है। निबन्ध एक ऐसी रचना है जिसमें लेखक एक निर्धारित सीमा में किसी विशिष्ट विषय का विवेचन उससे सम्बन्ध रखने वाले अनेक मतों, विचारों, मन्तव्यों आदि के तुलनात्मक और पांडित्यपूर्ण विचार धारा के अनुकूल करता हो।

भारतीय आधुनिक विद्वानों ने भी निबन्ध की अपनी अपनी परिभाषाएँ दी हैं जिनमें अधिकांश रूप में अंग्रेजी के वर्तमान 'ऐसे' शब्द का अर्थ ग्रहण किया गया है। बाबू गुलाबराय जी ने निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

'निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।'

गुलाबरायजी के मतानुसार निबन्ध के निम्नलिखित लक्षण हैं :—

(१) सीमित आकार की गद्य-रचना,

(२) निजीपन और व्यक्तित्व की छाप,

(३) अपूर्णता रहते हुए भी स्पष्टतः पूर्णरचना,

(४) संगति और सम्बद्धता का सद्भाव,

(५) शैली का सौष्ठव और सजीवता आवश्यक हिन्दी विद्वानों में हिन्दी निबन्ध के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत विशेष महत्वपूर्ण है ! आचार्य शुक्ल ने व्यक्तित्व की झलक' और 'विचारों की तारतम्यता' को निबन्ध के प्रमुख गुण स्वीकार किये हैं ! उन्होंने लिखा है :—

"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिये जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषताएँ हों। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह की समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृंखला रखी न जाय, या जान-बूझ कर जगह-जगह तोड़ दी जाय। भावों की विभिन्नता दिखाने के लिये ऐसी अर्थ योजना की जाय जो उनकी अनुभूति का प्रयुक्त या लोक सामान्य स्वरूप को कोई सम्बन्ध ही न रखे।"

शुक्लजी ने 'स्वच्छन्दअभिव्यक्ति' के महत्व का प्रतिपादन निम्न शब्दों में किया है :—

"निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृति के अनुसार स्वच्छन्दगति से इधर उधर छूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है ! यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।"

शुक्लजी के अनुसार निबन्ध में 'विचारों का गुम्फन' ऐसी प्रभावोन्विति लिये होता है कि पाठक की बुद्धि पढ़कर ऐसी तीक्ष्ण हो जाती है कि किसी 'अन्य विषय की ओर दौड़ पड़े।' इन्होंने निबन्ध में बुद्धि-पक्ष एवं भाव-पक्ष का सामन्जस्य करते हुए लिखा है:— "निबन्ध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात् बुद्धि और भावात्मक-हृदय दोनों को साथ लिये रहता है !"

शुक्लजी के आधार भूत सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए उदीयमान लेखक श्री जीवन प्रकाश 'जोशी' ने निबन्ध की निम्न परिभाषा दी है :—

"व्यक्तिगत अनुभव जन्य और ज्ञान सम्मत ठोस विचारों का दृढ़ और सीमित शृंखला बद्ध गद्यमय, शब्दमय चित्रण ही निबन्ध है।"

डा० गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार है :—"निबन्ध एक छोटा-सा गद्यविधान है जिसमें निबन्धकार जीवन या जगत से सम्बन्धित किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति उद्‌भूत अपनी मानसिक और बौद्धिक प्रति-क्रियाओं की इस प्रकार निर्बाध अभिव्यक्ति करता है कि वह अधिक से अधिक रोचक, संवेदनशील और चमत्कारपूर्ण हो।"

इन्हीं सर्वमान्य सिद्धान्तों को लेकर आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी है :—"साधारणतः निबन्ध वह साहित्य रूप है जो न बहुत बड़ा हो न बहुत छोटा, जो गद्यात्मक हो जिसमें किसी विषय का सरल चलता-सा विवरण हो। विशेषतः उस विषय का वर्णन हो जिसका स्वयं लेखक से सम्बन्ध हो। तात्पर्य यह है कि निबन्ध में किसी विषय पर लेखक की व्यक्तिगत भावनाओं और विश्वासों का ही विवेचन हो।"

उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं के अध्ययन के पाश्चात् हमें यह स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि निबन्ध गद्य साहित्य की पुष्ट विधा है जिसमें व्यक्तित्व की पूर्ण छाप होती है। इसमें विषय की व्यापकता, शैली सौष्ठव, भाव गम्भीर्य, संवेदन शीलता प्रभविष्णुता आदि विशिष्ट विशेषताओं को प्रकट करने के लिये पर्याप्त स्थान, अवसर और अवकाश रहता है।

डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में "निबन्धों को हम किसी परिभाषा की सीमा में नहीं बांध सकते। उनकी रूपरेखा भी नहीं बनाई जा सकती। वह मन के स्वच्छन्द भाव प्रवाह की भाँति स्वतन्त्र रहते हैं। केवल एक ढीली श्रृंखला, एक कोई छोटा-सा बीज तत्व, सार या भाव उस ओर भाव-प्रवाह को एक सूत्रता में बांधे रहता है।"

निबन्ध का साहित्य में स्थान :—

साहित्य में निबन्ध के स्थान का सही अंकन शुक्ल के इस कथन से किया जा सकता है "यदि पद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी।" इससे स्पष्ट है कि गद्य साहित्य में निबन्ध का महत्त्व-पूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। शुक्लजी के अनुसार 'भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सब में अधिक सम्भव होता है।' वस्तुतः भाषा की 'शक्तिमता' तथा 'विचारों की गुम्फित परम्परा' का जैसा प्रवाह प्रभाव एवं सौष्ठव निबन्ध में सम्भव है, वैसा अन्य साहित्यिक विधाओं में नहीं। क्योंकि निबन्ध में लेखक की शैली का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। इसमें लेखक का व्यक्तित्व उभर कर हमारे सामने आता है। साहित्य की अन्य विधाओं जीवनी, कहानी, उपन्यास आदि में भाषा केवल माध्यम-मात्र होती है किन्तु निबन्ध में भाषा पूर्ण सजावट के साथ प्रकट होती है। 'Style is the man himself' 'शैली ही व्यक्ति है' की उक्ति साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा निबन्ध में पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। निबन्ध में विषय की अपेक्षा विषयी या शैली पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। साधारणतः गद्य लिखना पद्य से कठिन माना जाता है पर सुन्दर निबन्ध लिखना और भी कठिन है। यह कोई कविता की तरह गहन भावात्मक प्रवाह नहीं, न किसी दार्शनिक का तर्क पूर्ण बुद्धि विलास है। निबन्ध में तो बुद्धि एवं हृदय का समन्वय होता है।

उपन्यास, कहानी; समालोचना, प्रगीत आदि की भाँति निबन्ध का भी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। उपन्यास की तरह निबन्ध में कथावस्तु का कोई लम्बा कलेवर नहीं होता, इसमें तो विषय का सीमित व पूर्ण वैयक्तिक चित्रण होता है। उपन्यास में उपन्यासकार का व्यक्तित्व पात्रों के चारित्रिक विवेचन एवं घटना विश्लेषण में कुछ कुछ तिरोहित हो जाता है परन्तु निबन्ध में निबन्धकार के व्यक्तित्व की झलक सर्वथा स्पष्ट रहती है क्योंकि वह 'निजीपन' लिये होता है। उपन्यास का संदेश अधिक व्यापक एवं सरलता से ग्राह्य होता है लेकिन निबन्ध की तरह बौद्धिक, मर्मस्पर्शी, एवं प्रभावोत्पादक नहीं होता।

कहानी और निबन्ध में प्रवाह प्रायः एक-सा होता है। आकार-विस्तार एवं शिल्प की दृष्टि से निबन्धकार एवं कहानीकार में साम्य अवश्य मिलता है; लेकिन कहानी में कथा-वस्तु और पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर कहानीकार का ध्यान अधिक रहता है जबकि निबन्ध में निबन्धकार का विषय-वस्तु की ओर ध्यान केन्द्रित रहता है।

समालोचना और निबन्ध दोनों ही एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सुसंगठित भाषा, आकर्षक वाक्य-विन्यास, ओज, हास्य, व्यंग्य आदि का स्वरूप निबन्ध और समालोचना में

प्रायः एकसा रहता है। वैसे एक निबन्धकार अच्छा समालोचक होता है। निबन्ध में लेखक का अनुभव, अध्ययन, विषय-विश्लेषण तर्क आदि अपने मन-मस्तिष्क की उपज होती है जिसको पढ़कर पाठक की बुद्धि तीव्र होकर अन्य विषय को जानने हेतु आतुर हो जाती है जब कि समालोचना में खंडन-मंडन, अपना आग्रह, तुलना आदि अधिक होता है। एक उदीयमान लेखक श्री विजय शकर मल्ल का कथन है कि 'निबन्धकार समाज का भाष्यकार और आलोचक होता है।'

प्रगीत और निबन्ध में समानता अधिक पाई जाती है। अंग्रेजी के निबन्धकार एलेक्जेण्डर स्मीथ ने प्रगीत काव्य एवं निबन्ध में व्यक्तिगत अनुभूति, आत्मीयता, संक्षिप्तता, भाव-प्रवणता आदि तत्त्वों को समान बताया है। इन तत्त्वों की समानता होते हुए भी दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रगीत का सम्बन्ध तीव्र गहनतम आत्मानुभूति से अधिक है जब कि निबन्ध का सम्बन्ध अनुभव, मनन एवं बौद्धिक चिन्तन, से अधिक है। शैली की दृष्टि से भी प्रगीत-काव्य में माधुर्य्य, प्रसाद, कोमलकांत पदावली एवं आलंकारिक वैभव मिलता है, जबकि निबन्ध में ओज, प्रसाद, माधुर्य्य, हास्य-व्यंग्य, लोकोक्ति-मुहावरों आदि का संयोग होता है। अभिव्यक्ति की सरलता जितनी निबन्ध में है उतनी प्रगीत-काव्य में नहीं।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से हमारा आशय यह रहा है कि अन्य साहित्यिक-विधाओं की तुलना में साहित्य में निबन्ध का क्या स्थान और स्थिति है! यह बात तो स्पष्ट है कि आधुनिक निबन्ध रचना के विषय और शैलीगत वैविध्य ने लेखक और पाठकों के चिन्तन की दिशा एवं दशा को सँवारा है। उनके चिन्तन के क्षितिज को विस्तृत एव व्यापक बनाया है जिसके फलस्वरूप सामाजिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि अनन्त विषयों, घटनाओं एवं प्रतिक्रियाओं पर अपना मत स्थिर करने में समक्ष हुआ है, स्वतन्त्र अभिव्यक्ति करने मे प्रशिक्षित हुआ है। नानारूपात्मक जगत के अनन्त विषयों पर अलग-अलग विचार, अनुभव एवं अध्ययन होते हैं जिसको निबन्धों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। इन्हीं सीढ़ियों पर से होकर मानव उन्नति की चरमसीमा पर पहुँचने में सफल हो रहा है। यदि यह भी कहें कि प्रत्येक निबन्ध सभ्यता एवं संस्कृति की मंजिल है तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। इस तरह मानव इन्हीं मंजिलों को तय कर प्रगति के प्रशस्त मार्ग पर आरूढ़ होता है।

विषय की व्यापकता का प्रसार जितना निबन्ध में देखने को मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिये अंग्रेजी निबन्धकार ह्यू गवाकर ने कहा है कि संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो निबन्ध का विषय न बन सकता हो।' इसी तरह ए० जी० गार्डनर ने भी अपनी परिभाषा में लिखा है कि निबन्ध का विषय कोई भी मामूली पदार्थ हो सकता है। छोटे से छोटे विषय आँख, कान, नाक, बात से लगाकर नारंगी का छिलका जैसे विषयों पर निबन्ध रचनाएँ हुई हैं तथा शुक्लजी के गम्भीर विचारात्मक निबन्ध 'श्रद्धा और भक्ति,' 'भाव या मनोविकार,' जैसे विषयों पर भी निबन्ध लिखे गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि निबन्धकार के लिये, 'जहाँ न पहुँचे कवि, वहाँ पहुँचे रवि' कवि की इस उक्ति की तरह यह

कहा जा सकता है कि 'जहाँ न पहुँचे करतार, वहाँ पहुँचे निबन्धकार।' बेकन और लीड ने भी यही कहा है कि निबन्ध सामान्य से सामान्य विषय पर भी लिखा जा सकता है।

'पद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है' शुक्लजी के इस कथन से निबन्धकार का विषय व्यापकत्व उतना प्रकट नहीं होता जितना शैली-सौष्ठव। निबन्धकार को अपने निबन्ध लिखने में अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। गहन चिन्तन एवं परिश्रम के माध्यम से वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ या विचारों को आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक शैली में अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार कवि अपने मन का स्वामी होता है, वह अपने मनोलोक में स्वच्छन्दता का विचरण करता है, उसी प्रकार निबन्धकार भी अपने विचारों के विशाल सागर की उर्मियों में तरंगित होता रहता है। केवल एक मूल भाव उसे खूँटे पर बंधे हुए पशु की तरह पकड़े रहता है लेकिन उसकी रस्सी में रबर की तरह 'इलास्टीसिटी' होती है। वस्तुतः साहित्य की विविध विधाओं का सामञ्जस्य निबन्ध में उपलब्ध होता है। कहीं नाटकीय आकर्षक संवाद, तो कहीं काव्यात्मक प्रवाह तो कहीं कहानी की तरह कथात्मकता और विनोद के दर्शन होते हैं। निबन्धकार अपने निबन्धों में एक विशेष कला का उद्रेक करता है। मॉन्टेन के अनुसार निबन्धकार 'स्वतंत्र और स्वनिष्ठ' है। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में 'निबन्धकार क्षुद्र से क्षुद्रतम वस्तुओं और विषयों को केन्द्र मानकर अपना वैयक्तिक अनुभव, विचार अनुभूति और ज्ञान घृणा और द्वेष, गाम्भीर्य और विनोद वृत्ति का ऐसा विस्तार करता है कि वह क्षुद्र वस्तु ही हमारे लिये नये नये अर्थों से समन्वित हो जाती है। निबन्ध पढ़ते हुए पाठक भी लेखक के व्यक्तित्व और विचार प्रवाह में डूब जाता है और उसकी परिसमाप्ति के साथ उसके ज्ञान और अनुभूति के क्षेत्रों को वृद्धि और विस्तार मिलता है।'...... वस्तुतः 'श्रेष्ठ निबन्धकार श्रेष्ठ अभिनेता की तरह अनेक भावों और रसों के कुशल चित्रकर्त्ता होते हैं।' निबन्धकार का जैसा सामाजिक परिस्थितियों का सीधा और स्पष्ट सम्बन्ध होता है वैसा अन्य साहित्यिकों का नहीं। उसका और पाठक का इतना सम्बन्ध होता है कि शैलीगत साज-सज्जा और कलात्मकता प्रदर्शित करने का उसे अधिक अवसर नहीं मिलता! उसका पाठक के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि साहित्य में निबन्ध का अन्यतम और विशिष्ट स्थान है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसका विकास सबसे पीछे हुआ तो भी यह प्रौढ़तम साहित्य है। वस्तुतः साहित्य में निबन्ध का अनूठा-स्थान है।

१६

हिन्दी नाटक के तत्त्व एवं सिद्धान्त

डॉ० शिवप्रसाद गोयल

हिन्दी में जिस अर्थ में 'नाटक' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ का द्योतन संस्कृत साहित्यशास्त्रों में 'नाट्य', 'रूपक' और 'रूप्य' शब्दों से होता है। नाटक दृश्य काव्य के लिए आदि नाट्याचार्य भरत मुनि ने 'नाट्य' शब्द का प्रयोग किया है। नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से हुई है। भरत मुनि ने नाट्य शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समस्त संसार के भावों का अनुकीर्तन ही नाट्य है। दशरूपककार धनञ्जय ने अवस्था-विशेष के अनुकरण को नाट्य कहा है।[1] अवस्था के इस अनुकरण को आचार्य विश्वनाथ ने अभिनय कहा है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में नाटक शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में दृश्य काव्य के एक भेद के लिए होता है, किन्तु हिन्दी में यह शब्द इतना व्यापक हो गया है कि यह समूचे दृश्यकाव्य के लिए जिस 'रूपक' शब्द का व्यवहार होता है, उसका भी अर्थ है, 'रूप का आरोप'।[2] अतः रूप के आरोप के कारण नाटक के लिए रूपक शब्द का प्रयोग किया गया। इस प्रकार हिन्दी में नाट्य, नाटक और रूपक शब्द प्रायः पर्यायवाची ठहरते हैं, किन्तु डॉ० त्रिगुणायत ने नाट्य और रूपक शब्दों में सूक्ष्म भेद माना है। उनके अनुसार 'नाट्य' में केवल अनुकृति को महत्व दिया गया है और 'रूपक' में अनुकृति के साथ-साथ रूप के आरोप पर भी बल दिया गया है।[3] किन्तु, जब नट किसी का अनुकरण करता है तब दर्शक स्वयं नट में उस व्यक्ति के रूप का आरोप कर लेता है जिसका उसने अनुकरण किया है। इसी प्रकार नट में किसी अन्य व्यक्ति के रूप का आरोप तब तक संभव नहीं है; जब तक उसने अन्य व्यक्ति का अनुकरण न किया हो। अनुकरण केवल क्रिया-कलाप का ही नहीं होता, रूप का भी होता है।

अंग्रेजी में नाटक के लिए 'ड्रामा' शब्द प्रचलित है। यूनानी भाषा में ड्रामा शब्द का अर्थ होता है 'सक्रियता'।[4] ड्रामा शब्द की इस पाश्चात्य व्युत्पत्ति से सक्रियता नाटक का प्रमुख उपादान सिद्ध होता है और नाटक सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण से अनुकरण और अभिनय।

---

१. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। —साहित्यदर्पण

२. रूपारोपात्तु रूपकम्। —वही

३. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, द्वितीय भाग, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ १७५

४. देखिए—इंगलिश ड्रामा, एश्ले डयूक्स

अभिनय और सक्रियता शब्द मूलतः नाटक के एक ही गुण—क्रियाकलाप—को ध्वनित करते हैं।

वास्तव में नाटक में प्रायः सभी कलाओं का समावेश हो जाता है। काव्य, इतिहास, समाज-शास्त्र आदि सभी विषयों का इसमें आश्रय लिया जाता है। दर्शकों के सामूहिक सहयोग के कारण इसमें जातीय जीवन की एक अद्‌भुत छटा के दर्शन होते हैं। नाटकाभिनय एक सामाजिक समारोह का रूप ले लेता है। इसके सम्बन्ध में नाट्य-कला के आदि आचार्य भरत मुनि ने ठीक ही कहा है कि योग, कर्म, समस्त शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में दिखाई न देता हो।[5] नाटक में इन सब कलापों का योग तो है ही, साथ ही इसमें वास्तविकता का अनुकरण जीते-जागते साधनों—स्त्री-पुरुषों—के द्वारा किया जाता है। इसमें घटनाओं का दर्शन नहीं रहता प्रत्युत वे घटित होती दिखाई जाती हैं। उनका उद्‌घाटन काव्य की भावुकता और रंग-बिरंगे दृश्य-विधान में चलते-फिरते पात्रों की क्रियाशील सजीवता के साथ होता है; तभी तो काव्य में नाटक को रम्य माना गया है।[6] अनुकरण और सम्भाषण जिनके आधार पर नाटकीय रचना का निर्माण होता है, मानव की आदिम और चिरन्तन वृत्तियाँ हैं। अतः नाटक में मानवीय मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति की प्राचीनता का भी बल है। इस प्रकार नाटक, साहित्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय विधा है।

नाटक के तत्त्व [भारतीय दृष्टिकोण]

भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक या रूपक के तीन मुख्य तत्व होते हैं—वस्तु, नेता और रस।[7] डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त 'अभिनय' और 'वृत्ति' नामक दो अन्य तत्त्व भी माने जाते हैं।[8] अधिकतर विद्वान् अभिनय और वृत्ति को रस-तत्त्व के अवयव के रूप में ही स्वीकार करते हैं। वृत्तियों के प्रयोग का विधान

---

५. न स योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन् यन्नदृश्यते।
सर्व शास्त्राणि, शिल्पाणि, कर्माणि विविधानि च ॥

६. काव्येषु नाटकं रम्यं।

७. वस्तुनेतारसस्तेषाम् भेदकः। —दशरूपक

८. वस्तु नेता और रस ये भेदक तत्त्व हैं सम तत्त्व नहीं। भारतीय दृष्टि से इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त सभी रूपकों में समान रूप से कुछ और भी तत्त्व माने जाते हैं। उनमें सबसे प्रमुख तत्त्व अभिनय है,.......अभिनय के अतिरिक्त भारतीय दृश्यकाव्य का दूसरा प्रधान समतत्त्व वृत्ति है। नाट्य-शास्त्र में इन्हें 'नाट्यमातरः' कहा गया है।........इस प्रकार जब हम वस्तु, नेता और रस—इन तीन भेदक तत्त्वों को उपर्युक्त अभिनय और वृत्ति तत्त्वों से मिला देते हैं तो भारतीय नाट्य के पाँच तत्त्व हो जाते हैं।—शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, द्वितीय भाग, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ १८८-१८९

रसानुकूल भाव उत्पन्न करने के लिए किया गया है। अभिनय से रस का सञ्चार अधिक सरलता से होता है तथा नाटक की कथावस्तु मूलतः अभिनेय होती है। कथा-साहित्य की अन्य विधाओं के कथानक में यह गुण नहीं होता। अपनी ओर से कुछ न कह सकने के कारण नाटककार की भाषा में जो कमी रह जाती है, वह नटों या अभिनेताओं की भाव-भङ्गिमा से पूरी हो जाती है। अतः अभिनय का समाहार नाटक की कथावस्तु मे ही हो जाता है। इस प्रकार भारतीय दृष्टिकोण से नाटक के तीन ही प्रमुख तत्त्व स्थिर होते हैं—वस्तु, नेता और रस।

वस्तु

कथावस्तु नाटक का मुख्य तत्त्व है। नाटक के स्थूल कथानक को कथावस्तु या केवल 'वस्तु' कहते हैं। नाटक की वस्तु का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।[9] नाटक में लोक की नाना अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है। लोक की इन नाना रूपिणी अवस्थाओं के दो रूप—सुखात्मक और दुःखात्मक—बहुत स्पष्ट रहते हैं जिन्हें नाटक में समान महत्त्व मिलता है।[10]

कथावस्तु के भेद

हमारे यहाँ इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और संवाद—इन चार के विचार से 'वस्तु' के भेद किये जाते हैं। **इतवृत के विचार से वस्तु के तीन भेद** होते हैं—**प्रख्यात, कल्पित** और मिश्रित।[11]

अधिकारी के सम्बन्ध से वस्तु के दो भेद होते हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक।[12]

---

९. एतद् रसेपु भावेपु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

१०. सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मं प्रवृत्तिभिः।
नानावस्थानन्तरोपेतंनाटकं संविधीयते ॥

× × × ×

अवस्थायातु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।
नाना पुरुष संचारा नाटके सम्भवेदिह ॥ —भरतमुनि

११. प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधाति तत् त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।

१२. इतिवृत्तं द्विधा चैव बुधस्तु परिवर्तयेत।
आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासंगिकमथापरम् ॥ —वही

नाटक के फल को अधिकार कहते हैं और उस फल के भोक्ता (नायक) को अधिकारी। अधिकारी से सम्बन्ध रखने वाली कथा अधिकारिक कहलाती है।[13] यह नाटक की मूल कथा होती है। इसके अतिरिक्त नाटक में कुछ गौण कथाएँ भी आती हैं जो विशेष परिस्थिति में प्रसंगानुकूल आधिकारिक कथा की पोषक और सहायक होती हैं।[14] ये प्रासंगिक कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो, बड़ी प्रासंगिक कथाएँ जो काफी दूर तक चलती हैं और दूसरी छोटी-छोटी कथाएँ जो किसी अवसर पर आकर और मुख्य कथा की सहायता करके समाप्त हो जाती हैं। पहली को **पताका** और दूसरी को **प्रकरी** कहते हैं।[15]

नाटक में फल की सिद्धि के साधनों के विचार से वस्तु का प्रयोजन पांच भागों में विभक्त किया जाता है—बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। इन्हें **अर्थप्रकृतियाँ** कहते हैं।[16] **'बीज'** फल के प्रथम हेतु को कहते हैं जिसका बाद में विस्तार हो जाता है।[17] शकुन्तला नाटक में मृग का पीछा करते हुए दुष्यन्त के कण्व के आश्रम में प्रविष्ट होकर वृक्ष सींचती हुई शकुन्तला को संयोगवश देख लेने की घटना ही आगे चल कर दुष्यन्त और शकुन्तला के विवाह का कारण बनी। इस प्रकार नाटक के फल का प्रथम मूल हेतु होने के कारण यह प्रयोजन बीज कहा जायगा।

बिन्दु अवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर प्रधान कथा के साथ उसे जोड़ देने वाले हेतु को कहते हैं।[18] शकुन्तला नाटक के दूसरे अंक में शिकार न खेलने की आज्ञा के वृत्तान्त

---

१३. अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तस्येतिवृत्तिं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥ —साहित्यदर्पण

× × × ×

कवेः प्रयत्नान्नेतृणां युक्तानां विन्ध्यपाश्रयात्।
कल्प्यते यत्फलप्राप्तिः समुत्कर्षंत्फलस्यतु।
कारणात्फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ —भरतमुनि

१४. परोपकरणार्थन्तु कीर्तयन्ते ह्यानुषंगिकम्। —वही

× × × ×

प्रासंगिकम् परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः। —दशरूपक

× × × ×

अस्योपकरणार्थं तु प्रासंगिकमिति इष्यते। —साहित्यदर्पण

१५. सानुबंधम् पताकाख्याम् प्रकरी च प्रदेशभाक्। —दशरूपक

१६. बीजं बिन्दुः पताकाश्च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयाः पंच ज्ञात्वा योज्या यथाविधिः ॥
—नाट्यशास्त्र, भरत मुनि २१,२२ तथा साहित्यदर्पण ६४,६५

१७. स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा। —दशरूपक

१८. अवान्तरार्थ विच्छेदे बिन्दुरच्छेद कारणम्। —वही

से मूलकथा—दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम—का विच्छेद हो गया। तब राजा एकान्त में विदूषक के साथ शकुन्तला के अद्भुत सौन्दर्य की बात चलाता है इससे मूलकथा पुनः आगे बढ़ने लगती है। इस प्रकार यह हेतु बिन्दु कहा जायगा।

पताका और **प्रकरी** के लक्षण पहले कहे जा चुके हैं। प्रधान साध्य जिसके लिए सब नाटकीय सामग्रियाँ एकत्र की जाती हैं, कार्य कहलाता है।[19] शकुन्तला नाटक के अन्त में दुष्यन्त और शकुन्तला का सब विघ्न-बाधाओं को पार करने के बाद पुनः परस्पर मिलना कार्य है। कार्य में नाटक के उद्देश्य की पूर्णता निहित होती है। इन पाँचों प्रयोजनों या हेतुओं को अर्थप्रकृतियाँ कहते हैं। अर्थप्रकृति का तात्पर्य है—अर्थ को जन्म देने वाली। 'वस्तु' के विकास में इनकी सहायता से ही सफलता प्राप्त होती है।[20] अर्थप्रकृतियाँ नाटक के अंग-विन्यास की सूचक हैं। जिस प्रकार मनुष्य की आकृति और उसके अंगों की संगति पर ही उसका सौन्दर्य निखरता है, उसी प्रकार कथानक तथा अर्थप्रकृति की संगति पर नाटक में यथेष्ट आकर्षण आता है। कथानक के ये अंग नाटक के बाह्य सौन्दर्य के विधायक हैं। इसमें भिन्न कार्यावस्था या व्यापार का तत्त्व नाटक को सजीव एवं सप्राण बनाने के उद्देश्य से नियोजित किया जाता है। यह नाटक का अंतरंग या गतिशील तत्त्व है वस्तु संगठन और व्यापार की समुचित योजना—ये दोनो मिल कर नाटक को पूर्ण कलात्मक उत्कर्ष प्रदान करते हैं।

कार्य की अवस्थाएँ—नाटक में मुख्य है उसका फल। इसे ही कथा का 'कार्य' मानते हैं। नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु में यह कार्य पांच अवस्थाओं में झलकता है—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फल की सिद्धि के लिए जो उत्सुकता होती है, उसे **आरम्भ** कहते हैं।[21] उसकी प्राप्ति के लिए जो वेगमय या त्वरायुक्त व्यापार होते हैं, वे **यत्न** कहलाते हैं।[22] जहाँ फल की प्राप्ति की संभावना तो हो जाती है, किन्तु वह उपाय और अपाय दोनों की आशंकाओं से अभिभूत होती है, वहाँ **प्राप्त्याशा** होती है।[23] समस्त विघ्न-बाधाओं के हट जाने पर प्राप्ति के निश्चय की स्थिति को **नियताप्ति** कहते हैं।[24] जहाँ सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ **फलागम** होता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक में

---

१९. अपेक्षित तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संयतम्॥ —साहित्यदर्पण, ६९

२०. अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धि हेतवः। —दाशरूपक

२१. औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे। —वही

× × × ×

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्य फलसिद्धये। —साहित्यदर्पण

२२. प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारो ऽतित्वरान्वितः। —दशरूपक

२३. उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्ति सम्भवा। —वही

२४. अपायाभावतः प्राप्तिः नियताप्तिस्तु निश्चिता। —वही

शकुन्तला के दर्शन से दुष्यन्त के हृदय में उत्पन्न प्रथम उत्सुकता कार्य की पहली अवस्था 'आरम्भ' है। शकुन्तला को पाने के लिए दुष्यन्त का प्रयत्न, आश्रम-निवास का बहाना ढूँढना आदि 'यत्न' है। दुर्वासा के द्वारा शाप-निवृत्ति का मार्ग बता देने से अभीप्सित फल की प्राप्ति की संभावना 'प्राप्त्याशा' है। मछुए से अँगूठी मिल जाने पर राजा को शकुन्तला के प्रेम का स्मरण हो जाने पर दोनों के पुर्नमिलन का निश्चय हो जाता है अतः यह अवस्था 'नियताप्ति' कहलायेगी। स्वर्ग लोक में दुष्यन्त को शकुन्तला का मिल जाना कार्य की अन्तिम अवस्था अर्थात् 'फलागम' है।

सन्धियाँ—उपर्युक्त कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों को जोड़ने के लिए नाटकों में पाँच संधियों का विधान किया जाता है। उनके नाम हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, या अवमर्ष) तथा निर्वहण (या उपसंहृति)[25]। बीज और आरम्भ को मिलने वाली संधि को, जिसमें बहुत से रसों की कल्पना होती है, **मुख** कहते हैं।[26] जहाँ 'मुख' संधि मे उत्पन्न 'बीज' कभी लक्षित और कभी अलक्षित रहता है, वहाँ **प्रतिमुख सन्धि** होती है।[27] इस प्रकार बीज का विकास होता रहता है। प्रतिमुख संधि में 'यत्न' और 'बिन्दु' की संधि होती है। जिस संधि में उपाय कहीं दब जाय तथा उसकी खोज करने के लिए 'बीज' का और भी विकास हो, उसे **गर्भ संधि** कहते हैं।[28] इसका नाम गर्भ संधि इसलिए रखा गया है कि इसमें फल उसी प्रकार छिपा पड़ा रहता है जिस प्रकार माता के गर्भ मे संतति। इसमें 'प्राप्त्याशा' के साथ 'पताका' का मिलन वैकल्पिक होता है। जहाँ फल का उपाय तो कुछ और विकसित हो जाता है, परन्तु विघ्नों के आ जाने से उसमें व्याघात पहुँचता है, वहाँ **विमर्स** (या अवमर्ष, संधि होती है इसे 'विमर्श' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें विशेष रूप से विचार करना पड़ता है।[29] इसमें 'नियताप्ति' और 'प्रकरी' की संधि होती है, किन्तु

---

२५ मुखं प्रतिमुखं चैव गर्भोविमर्ष एव च।
निर्वहण चेति नाटके पंचसंधयः॥ —भरत मुनि

२६ मुखं बीजं समुत्पत्ति नानार्थंरस सम्भवः।
अंगानि द्वादश तस्य बीजारम्भ समन्वयात्॥ —धनञ्जय

२७ बीज प्रकाशनं यत्र दृश्यादृश्यतयो भवेत् तत्स्यात् प्रतिमुखं। —साहित्यदर्पण
लक्ष्यालक्ष्यतयो उद्‌भेदः तस्य प्रतिमुखं भवेत्। —दशरूपक

२८ उद्‌भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव च।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भः परिकीर्तितः॥

२९ यत्र प्रलोभनक्रोधव्यसनाद्यैविमृश्यते।
बीजादौ गर्भनिर्भिन्नः सोऽवमर्श इतीर्यते॥ —भरतमुनि

× × ×

क्रोधेनावमृषेद्यत्र व्यसनात् वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्न बीजार्थं सो अवमर्षो अंगसंग्रहः। —दशरूपक

'प्रकरी' का विधान यहाँ वैकल्पिक होता है। जहाँ एक ही प्रधान प्रयोजन में 'कार्य' और 'फलागम' के साथ-साथ सब प्रकार के अर्थों का पर्यवसान हो जाता है, वहाँ निर्वहण संधि होती है [30] इसी संधि में नाटक समाप्त होता है।

अभिनय के विचार से 'वस्तु' के दो भेद होते हैं—दृश्य (या वाच्य) और सूच्य। **दृश्य** वह है जो रंगमंच पर दिखाई जाय और **सूच्य** वह है जिसकी सूचना भर दी जाय।[31] ऊपर दृश्य या वाच्य 'वस्तु' पर ही विचार हुआ है। नाटक में कार्य की सिद्धि के लिए घटनाओं का परिष्कार भी करना पड़ता है। इस कारण बहुत सी ऐसी घटनाएँ छूट जाती हैं जिनका नाटक के उद्देश्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता किन्तु कथा की अखण्डता के विचार से जिनकी सूचना अवश्य दी जाती है। ये कथाएँ सूच्य कहलाती हैं। इन्हें **'अर्थोपक्षेपक'** भी कहते हैं। युद्ध, हत्या, मृत्यु आदि जिनका रंगमंच पर दिखाया जाना क्षोभकारी होने से वर्जित हैं, सूच्य कथाएँ हैं। विवाह; भोजन आदि भी रंगमंच पर दिखाए नहीं जाते।

अर्थोपक्षेपकों के पाँच भेद होते हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार तथा अंकमुख (या अंकास्य) [32] भूत और भविष्य की घटनाओं का सूचक वार्तालाप **विष्कम्भक** कहलाता है। इसमें सूचना देने वाला कोई मध्यम श्रेणी का पात्र होता है यह विष्कम्भक दो प्रकार का बताया गया है—शुद्ध और सांर्ण। शुद्ध विष्कम्भक वह होता है जो एक या अनेक मध्य पात्रों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इसके विपरीत संकीर्ण वह होता है जो मध्यम श्रेणी के नीच पात्रों के द्वारा प्रदर्शित किया जता है।[33] **प्रवेशक** में भी विष्कम्भक की भाँति घटनाएँ संचित होती हैं किन्तु सूचक नीच पात्र होते हैं और उनकी उक्तियाँ

---

३० मुखसंध्यादयो यत्र विकीर्णा बीज संयुताः।
यदा प्रयोजनं यान्ति तन्निर्वणमुच्यते ॥ —भरतमुनि

× × ×

बीजवन्तो मुखाद्यर्थाः विप्रकीर्णाः यथायथम्।
ऐकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥ —दशरूपक

३१ नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो विस्तरः
दृश्यस्तु मधुरोदात्त रसभाव निरन्तरः

३२ विष्कम्भक चूलिकांकस्यांकावतार प्रवेशकैः —वही

३३. मध्य पुरुष नियोज्यो नाटक मुखसंधिवस्तु संचारः।
विष्कम्भकस्तु संस्कृत पुरोहितामात्यकंचुकीभिः ॥ —भरतमुनि

× × × ×

वृतवीर्तष्य भागानां कथाशानाम् निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भो मध्य पात्र प्रयोजितः ॥ —दशरूपक

× × × ×

एकानेक कृतशशुद्धः संकीर्णो नीच मध्यमैः। —वही

अनुदात्त होती हैं ।[34] पर्दे के पीछे से घटना की सूचना **चूलिका** कहलाती है ।[35] किसी अंक के अंत में आगामी घटनाओं की जो सूचना दी जाती है और जिसके अनुसार अगले अंक में घटनाएँ घटती हैं, उसे **अंकावतार** कहते हैं ।[36] पिछले अंक में सूचना देने वाला पात्र जब अगले अंक में अभिनय करता हुआ भी देखा जाता है, उसे तब **अंकास्य** या **अंकमुख** कहते हैं ।[37]

संवाद के विचर से 'वस्तु' के तीन विभाग किये गये हैं—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य । किसी पात्र की उक्ति रंगमंच पर उपस्थित यदि सभी पात्र सुनें तो वह **सर्वश्राव्य** है । यदि उसे उनमें से कुछ ही पात्र सुन सकें तो वह **नियतश्राव्य** है । जिस उक्ति को केवल कहने वाला पात्र ही सुनता है और कोई नहीं, उसे **अश्राव्य** कहेंगे । अश्राव्य को 'स्वगत' कथन भी कहते हैं । आधुनिक युग में नाटकों में स्वगत कथन की योजना को कृत्रिम विधान माना जाता है क्योंकि उसे रंगमंच पर उपस्थित पात्रों को तो सुनी-अनसुनी करते हुए मान लिया जाता है, किन्तु उनसे काफी दूर बैठे दर्शक उसे सुन लेते हैं, उन्हें सुनाने के लिए ही तो उसकी योजना होती है । यही बात 'नियतश्राव्य' के सम्बन्ध में भी है । अतः आजकल 'सर्वश्राव्य' उक्तियों का ही प्रयोग नाटकों में उचित समझा जाता है । जब स्वगत कथन की आवश्यकता प्रतीत होती है तो कोई पात्र वैसे ही स्थिति में अपने मन की बात व्यक्त करता हुआ केवल उस समय दिखाई देता है जब रंगमंच पर अकेला वही हो । इस विधान को 'एकान्त कथा' (Soliloquej) कहते हैं । पुराने नाटकों में कहीं-कहीं अनावश्यक पात्रों को कम करने के लिए 'आकाशभाषित' की भी योजना की जाती है जिसमें पात्र स्वयं ही प्रश्न करता है और स्वयं ही उत्तर भी दे देता है । यह योजना भी अब कृत्रिम मान कर त्याग दी गई है । संस्कृत नाटकों में 'नियतश्राव्य' के भी दो रूप प्रचलित रहे—'अपवारित' और 'जनान्तिक' । यहाँ सामने के पात्र की ओर से मुखमोड़ कर किसी रहस्यमय बात को उससे छिपा कर कटाक्ष किया जाय, वहाँ 'अपवारित' नामक नियतश्राव्य पाया जाता है । जहाँ दो से अधिक पात्रों की बात के प्रसंग में अनामिका को छोड़ कर शेष तीन अंगुलियों की ओट में गुप्त संभाषण किया जाता है, वहाँ 'जनान्तिक नामक नियतश्राव्य होता है ।

वस्तु-भेदों का आधुनिक नाटकों में समाहार—

कथावस्तु के ऊपर जितने भेदोपभेद दिखाये गये हैं, वे सभी नाटकों में थोड़े-बहुत अवश्य होते हैं । नाटकों की रचना 'वस्तु' के ही आधार पर होती है । इसलिए वस्तु और उसके प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नाटककार को नाट्य-प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती है । जान-

३४. प्रवेशकोऽनुदात्तोक्तया नीच पात्र प्रयोजितः ।
अंकस्यन्तर विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ।। —साहित्यदर्पण

३५ अन्तर्जवनिकासस्थैः चूलिकार्थस्य सूचना ।

३६. अंकावतारस्दंतकान्ते पातोऽस्यकः विभागतः ।

३७. अंकान्तपात्रैरंकास्यं छिन्नांकस्यार्थ सूचनात् ।। —दशरूपक

बूझ कर शास्त्रीय प्रक्रिया का विधान जिन नाटकों में कठोरता के साथ किया जाता है, उनमें शास्त्र-सम्पादन पर ही दृष्टि रहने के कारण कृत्रिमता झलकने लगती है। कार्यावस्थाएँ प्रायः सभी नाटकों में होती हैं। अर्थप्रकृतियों में 'पताका' और 'प्रकरी' को छोड़ कर शेष तीन प्रकृतियाँ प्रायः सभी नाटकों में दिखाई देती हैं। संधियाँ भी अवश्य आती हैं। कथाओं के जो अन्य भेद किये गये हैं, उनमें से सूच्य कथाएँ सभी नाटकों में अल्पाधिक होती हैं; किन्तु 'प्रवेशक, विष्कम्भक आदि की भाँति उनका सन्निवेश अब अंक में नहीं देखा जाता। कारण यह है कि रंगमंच पर अन्तःपटी का विधान हो जाने से पुराने नाटकों की भाँति अंक की कथा अखंड रूप में रखने की आवश्यकता अब नहीं रह गई। अंकों का विभाजन दृश्यों के नाम से कर लिया जाता है। देशकाल के विचार से प्रत्येक अंक में ध्यान रखने की जितनी बातें थी, उनकी अब वैसी आवश्यकता न रह गई। समय के साथ लोगों की रुचि बदल गयी। संस्कृत के नाटकों को देखने से पता चलता है कि एक अंक में जो घटना घटी है, वह एक ही स्थान पर घटित होती है और उसका समय भी खंडों में पृथक् नहीं रहता, कुछ पात्र रंगमंच पर आते हैं और कुछ चले जाते हैं। उनके कार्य-साधन और देशकाल में अन्तर नहीं होता। अंक की समाप्ति पर सभी पात्र रंगमंच से चले जाते हैं और नाटककार इस बात को "निष्क्रान्ताः सर्वे" (सब चले गये) लिख कर व्यक्त कर देता है। दूसरे अंक में पुनः नए सिरे से कार्यारम्भ होता है और आवश्यक होने पर स्थान तथा देश का परिवर्तन कर दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तःपटी का प्रयोग प्राचीन काल में नहीं किया जाता था। नाटक को विशेष स्वाभाविक बनाने के प्रयोजन से अब हिन्दी नाटककार अनेक प्राचीन विधियों का त्याग कर रहे हैं।

नेता (नायक)

आधुनिक नाटकों में पाश्चात्य नाटकों के अनुगमन पर शील-निरूपण मुख्य समझा जाता है और यह शील-निरूपण व्यक्तिगत वैचित्र्य को लेकर चलता है। प्राचीन नाटकों में नायक और नायिका का ही विचार होता था, अन्य पात्रों का नहीं। नायक तथा नायिका के बने-बनाये साँचे हुआ करते थे। नाटक के नेता या नायक के लिए यह आवश्यक था कि वह विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियभाषी, लोक में अनुरक्त; पवित्र, वाणी-निपुण, उच्च कुल का, स्थिर स्वभाव वाला और युवा हो तथा उसमें बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला, शूरता, दृढ़ता, तेजस्विता, शास्त्रज्ञता और धार्मिकता के गुण होने चाहिएँ।[38]

नाकय के चार-भेद बताये गये हैं—धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत्त।[39] इन सब में एक सामान्य 'धीर' शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि न केवल नायकों के बने-

---

३८. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलकोः शुचिरवाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥
बुद्धयुत्साह स्मृतिप्रज्ञा कलामान् समन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

३९. भेदैः चतुर्धा ललितशान्तोदस्तोद्धतैरयम्।

बनाये सांचे होते थे वरन् उन नायकों में कथित गुणों की चरमावस्था का विधान नही हो सकता था। धीरता अर्थात् गांभीर्य को लिये हुए उदात्त, ललित, प्रशान्त और उद्धत—सब का व्यवहार किया जाता था। केवल नायक पर ही विचार-विमर्श होने से सिद्ध है कि नाटक में सन्निविष्ट सभी पात्रों की कुछ न कुछ चरित्रगत विशिष्टता दिखाना पुराने नाटककारों का लक्ष्य न था। किन्तु, आजकल सभी पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है। पहले, जिन नायक और नायिकाओं के स्वरूप पर ध्यान रखा भी जाता था, उनका भी रूप ऐसा बंधा हुआ था कि एक ही प्रकार का नायक यदि कई नाटकों में हो तो स्थूल रूप से उनका भेद करना सम्भव नहीं था। भारतीय नाट्यशास्त्र में नायकों के ये भेद वर्ण्य-विषय का विस्तार करने के लिए नहीं थे, केवल अनुकार्यों का स्वरूप समझाने के लिए थे।

धीरोदात्त नायक शोकक्रोधादि से अविचलित हृदयवाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघाहीन, अहंकारशून्य, परम धीर-वीर और दृढ़व्रती होता है।[40]

धीरललित नायक सदा बना-ठना रहने वाला, सुखान्वेषी, कलाविद्, निश्चिन्त, प्रसन्न-चित्त और कोमल स्वभाव का होता है।[41]

धीरप्रशान्त नायक सुशील, दयावान, गुणवान और शान्त स्वभाव का होता है। यह क्षत्रिय नहीं होता क्योंकि क्षत्रियों में सन्तोष का प्रायः अभाव रहता है। ऐसा नायक अधिकतर ब्राह्मण या वैश्य होता है जिसमें अन्य गुणों के साथ शान्त स्वभाव की मुख्यता होती है।[42]

धीरोद्धत नायक मायावी, चंचल प्रचंड, आत्मप्रशंसा परायण छली तथा अहंकार और दर्प से युक्त होता है[43]

नायक के कुछ सहायक पुरुष पात्र भी होते हैं। नायक का अंतरंग मित्र और ब्राह्मण **विदूषक** कहलाता है। नायक का मित्र कोई कवि या कलाविद **विट्** कहलाता है। प्रासंगिक कथा का नायक **पीठमर्द** होता है। यह अधिकारिक कथा के नायक की अपेक्षा हेयगुण वाला और उसकी सहायता में तत्पर रहने वाला होता है। दूत, दूतिका, प्रतिहार, मन्त्री (अमात्य), कुमार, सेनापति और न्यायाधीश भी नाटक के पात्र होते हैं।

नायिकाएं तीन प्रकार की कही गयी हैं—**स्वकीया, अन्या** और **गणिका**। आयु के विचार से स्वकीया के तीन भेद माने गये हैं—**मुग्धा**, मध्या और प्रगल्भा (या प्रौढ़ा)। नायक और नायिकाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के विचार से नायिकाओं के ८ भेद होते हैं—

---

४०. **महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।**
स्थिरोनिगूढ़ाहंकारो धीरोदात्तोदृढव्रतः॥

४१. **निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।**

४२. **सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।**

४३. **दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः।**
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥

स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, और अभिसारिका। अयत्नज, स्वभावज और अंगज—नायिका के ये तीन स्वाभाविक अलंकार माने गये हैं। प्रधान रानी या पटरानी **महा देवी** कहलाती हैं। रानी न होने पर राजा की प्रेयसी **स्वामिनी** कहलाती है।

शृंगार रस के सम्बन्ध में पत्नियों के सम्बन्ध के आधार पर नायकों के चार अन्य भेद होते हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। नायकों के ये भेद मुख्य नायकों के अवान्तर भेद नहीं माने जाने चाहिएँ क्योंकि धीरोदात्त या धीर प्रशान्त नायक शठ अथवा धृष्ट नहीं हो सकता। इन्हें स्वतंत्र भेद मानना चाहिए।

रस

रस, भाव की चरम आनन्दानुभूति है और इसे काव्य या नाटक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। नाटक में व्यंजित रस दो प्रकार के हैं—प्रधान (अंगी) और गौण (अंग)! नाटक में प्रधान रस दो माने गये हैं—शृंगार और वीर। अन्य रसों की व्यंजना गौण रूप में होती थी। अभिप्राय यह था कि रस के विचार से कोई नाटक मुख्य रूप से या तो कोमल भावव्यंजक हो या परुष भाव-व्यंजक। घृणोत्पादक या भंग्रकारी भावों के प्रदर्शन का निषेध था। किन्तु अब हिन्दी के नाटकों में वीर और शृंगार के अतिरिक्त अन्य भावों का भी प्रदर्शन मुख्य रूप में होने लगा है। व्यापकता की दृष्टि से वीर और शृंगार के अतिरिक्त करुण रस मुख्य है।

हमारे यहाँ रस ही नहीं, रस-विरोध का भी उल्लेख मिलता है। परस्पर विरोधी रसों का एक ही स्थान में सन्निवेश उचित नहीं माना गया है। विरोधी रसों की व्यंजना एक ही स्थल पर की तो जा सकती है किन्तु आलम्बन का भेद करके। एक ही आलम्बन में एक साथ दो विरोधी रसों की व्यंजना की जा सकती है।

शान्त रस दृश्यकाव्य में त्याज्य माना गया है। श्रव्यकाव्य में शांत रस का रसत्व चाहे मान भी लिया जाय किन्तु नाटक का जो प्रधान कार्य है—दर्शक और अनुकार्य के हृदयों का तादात्म्य, वह शांत रस के द्वारा सम्भव नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि नाटकीय प्रदर्शन भावोद्रेक कराता हुआ प्रवृत्तिमूलक होता है। शांत रस में वैसे तादात्म्य की संभावना न होने से वह केवल निवृत्तिमूलक होता है। इसीलिए आचार्यों ने शांत रस को अभिनेय नहीं माना है।

वृत्तियाँ—रसानुकूल भाव उत्पन्न करने के लिए हमारे यहाँ वृतियों के प्रयोग का विधान है। ये वृत्तियाँ चार हैं—कौशिकी, सात्त्विकी, आरभटी और भारती। नाटकों में विषयों के विचार से जो विभिन्न वर्णन-शैलियाँ हैं या नायक और नायिका के विशेष व्यापार को वृत्ति कहते हैं।[44] शृंगार रस में कौशिकी वृत्ति होती है। इसमें नृत्य और गान अधिक होते हैं जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते है, मनोहारी वेश-रचना, सुख-सामग्री का

---

४४. विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः। —काव्यमीमांसा

प्राचुर्य और विलासमयता रहती है। इसमें हास्य शृंगार के सहायक रूप में रहता है। **सात्विकी** वृत्ति वीर, अद्भुत और भयानक रसों के अनुकूल होती है और इसमें बल, शौर्य, त्याग, दया, सरलता और हर्षयुक्त सामग्री की बहुलता रहती है। **आरभटी** वृत्ति भयानक और रौद्र रसों के अधिक अनुकूल हैं। इसमें छल, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, वध, बंधन आदि की प्रधानता होती है। **भारती** वृत्ति केवल भाषा के प्रयोग पर आधारित है। अतः सभी रसों में इसका अनुकूल प्रयोग हो सकता है।[45] उच्च श्रेणी के पात्रों की भाषा संस्कृत और निम्न श्रेणी के पात्रों की प्राकृत मानी गई है। हिन्दी में यह क्रमशः व्याकरण सम्मत शुद्ध साहित्यिक भाषा और सरल व्यावहारिक भाषा हो सकती है। नृत्य और गान रस के अनुकूल होने चाहिएँ। नृत्य के दो भेद किये गये हैं— ताण्डव और लास्य। ताण्डव वीर रस का और लास्य शृंगार रस का नृत्य माना गया है।

अभिनय और उसके भेद

नाट्यशास्त्र में नाटकों को 'आकृतिमूलक काव्य' माना गया है। इनमें व्यक्तियों के कार्यों, उनकी स्थितियों और मनोभावों का अनुकरण किया जाता है। अनुकरण का आधार इंगित, वाणी, वस्त्र और वेशभूषा है। इस आधार पर अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

शरीर के अंगों—सिर, आँख, हाथ आदि—को हिला-डुला कर जो अभिनय किया जाता है, उसे **आंगिक** अभिनय कहते हैं। सफल अभिनेता या नट अपनी आँखों और मुख-मुद्रा से अपने मन के भावों को व्यक्त कर देता है। लाल-लाल आँखें क्रोध की और शृंगार के प्रसंग में नीची निगाहें रतिभाव की अभिव्यक्ति में पर्याप्त सहायक रहती हैं। आङ्गिक अभिनय को कायिक अभिनय भी कहते हैं।

वाचिक अभिनय में पात्र अनेक बोलियों की जानकारी से बालक-युवा-वृद्ध या ग्रामीण और नागरिक का भेद वाणी से प्रकट करता है। पात्र की वाणी से जाना जा सकता है कि वह किस वर्ग का है। वाणी की भिन्नता आन्तरिक भावों को भी व्यक्त करती है, जैसे कराहती हुई वाणी दुःख-दैन्य को प्रकट करेगी या बात-बात पर फूटती हुई हँसी प्रसन्नता को व्यक्त करेगी। वाचिक अभिनय में सफलता प्राप्त करने के लिए भरत मुनि ने स्वर-शास्त्र, व्याकरण और छन्द-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने पर बल दिया है।

आहार्य अभिनय का सम्बन्ध वेशभूषा तथा अन्य प्रसाधनों से है। नाट्यशास्त्र में भिन्न-भिन्न जातियों के लोगों के रंग, बाल, पहनावे, आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। देवता गौर-वर्ण और असुर-चांडाल आदि कृष्ण-वर्ण बताये गये हैं। विदूषक का सिर गंजा

---

४५ शृंगारे कौशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥ —साहित्यदर्पण

दिखाया जाता है। इसी प्रकार आहार्य अभिनय में अन्य प्रसाधनों का ध्यान रखा जाता है जिस से देश-काल-विरुद्ध दूषण से रक्षा हो सके।

सात्विक अभिनय में अश्रु, रोमांच, स्वेद, विवर्णता, वेपथु (कम्प), वैस्वर्य (स्वर-विकृति), प्रलय (मूर्च्छा), स्तम्भ (जड़ता)—इन आठ सात्त्विक भावों का या उनमें से कुछ का अनुकरण किया जाता है। सात्त्विक अभिनय अत्यन्त कुशल अभिनेता ही कर पाते हैं। यह अभिनय आङ्गिक अभिनय से मिलता-जुलता होते हुए भी भिन्न होता है। सात्त्विक अभिनय का सीधा सम्बन्ध भावाभिव्यक्ति से है, किन्तु अङ्गिक अभिनय का सम्बन्ध शरीर के अवयवों की गति अथवा संचालन से है। आंगिक अभिनय अभ्यास से भी हो जाता है किन्तु सात्त्विक अभिनय के लिए अभिनेता के चित्त का परिस्थिति के अनुकूल द्रवित होना अत्यावश्यक है।

हिन्दी में अलंकार के सिद्धान्त

डॉ० नित्यानन्द शर्मा

आधुनिक हिन्दी समीक्षा की उद्भव सारणियों में अलंकारों के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक विवेचन की व्यापक प्रवृत्ति अनुस्यूत दिखाई देती है। वर्ण कौतुक के साथ अर्थगत रमणीयता तथा चमत्कार प्रवणता पर आधृत वैदग्ध्य भंगियों को तत्कालीन आचार्यों ने काव्य-कौशल का अनिवार्य आधार माना था। अनुवाद परक दृष्टि के साथ हिन्दी के स्वाभाविक विकास को ध्यान में रख कर ही रीतिकालीन आचार्य अलंकारों के लक्ष्य-लक्षण प्रस्तुत कर रहे थे। काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण, अलंकार शेखर, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द को उपजीव्य बनाकर भी इस काल के सत्कवियों ने अलंकृतियों की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया की अपेक्षा सौन्दर्यशास्त्रीय रुचि के जागरण में योग दिया। केशव प्रवर्तित चिन्तन धारा तथा कुलपति मिश्र प्रवाहित ध्वनि प्रस्थान मूलक अलंकार निरूपण की प्रवृत्ति ने उद्देश्य भेद होते हुए भी एक अविछिन्न सम्बन्ध सूत्र कवि शिक्षा-प्रयोजन के माध्यम से स्थापित किया। सर्वजन सुलभता के दृष्टिकोण के कारण ही अतकर्य पाण्डित्य से विभूषित होने पर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन का अभाव इन आचार्यों के चिन्तन से जुड़ा रहा। कवि यशः प्रार्थी चिन्तकों के मार्ग-दर्शन का श्रेय प्राप्त कर के उन्होंने संस्कृत परम्परा का स्वदेशी रूप विदेशी परकीयापन के साथ मणि कांचन के रूप में संयुक्त कर दिया। शैली की दृष्टि से, चन्द्रालोक के एक ही छन्द में लक्षण समर्थन के लिए उदाहरण देने की पद्धति तथा प्रतापरुद्र यशोभूषण की लक्षण-समर्थन के लिए उदाहरण की अप्रत्यक्ष व्याख्या पद्धति दृष्टव्य हैं। दूलह ने एकत्र लक्षण देकर एक साथ उदाहरण संचयन की चाल भी अपनाई है। लाटानुप्रास के विवेचन में पद की आवृत्ति को ध्यान में रखकर हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुरूप पदों की आवृत्ति तथा पदावृत्ति नामक दो भेद रीति-कालीन आचार्यों ने अपनाए हैं। अश्लिष्ट परम्परित रूपक के उदाहरणों में भी यही दृष्टि व्यापक दिखाई देती है। अलंकारों की स्थिति 'उक्तिभेद' के आधार पर निरूपित की गई है। रस के उत्कर्ष में अलंकरों का योग अनिवार्य माना गया है। दास कवि द्वारा कथित 'रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल' से अलंकारों की काव्य स्थिति विषयक सामान्य धारणा का परिचय मिल जाता है।

आधुनिक युग के परम्परानुयायी आख्याताओं में मुरारिदान, जगन्नाथ प्रसाद भानु, भगवानदीन, कन्हैया लाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया, बिहारीलाल भट्ट, मिश्र बन्धु तथा राम दहिन मिश्र ने जसवंत भूषण, काव्य प्रभाकर, कलंकार मंजूषा, अलंकार मंजरी, अलंकार पीयूष, भारतीय भूषण; साहित्य सागर, साहित्य पारिजात और काव्य दर्पण में क्रमशः संस्कृत

तथा मध्ययुगीन हिन्दी कवियों के उदाहरण प्रस्तुत कर विषय को सरल और सुबोध रूप में उपस्थित किया । जगन्नाथ प्रसाद भानु तथा भगवानदीन जो ने अंग्रेजी अलंकारों का निर्देश भी अपनी कृतियों में किया । भानु जी ने मैटोनेमी के लिए अजहत् लक्षणा, ट्रांसफर्ड एपीथैट के लिए निदर्शना तथा प्रोसोपोपिया के लिए भाविक नाम देकर पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय देने की नींव डाली । लालाजी ने लोक प्रवृत्ति को प्रमुखता देकर भक्त और वीर कवियों की रचनाओं के उदाहरण अलंकारों के स्पष्टीकरण के लिए दिये । दोष विशेष के देखने पर सामान्य के परित्याग को उन्होंने 'तिरस्कार' नामक नवीन अलंकार की संज्ञा से भूषित किया । 'जाके प्रिय न राम वैदेही' वाले सुप्रचलित लक्ष्य को देखकर ही यह सद्भावना की गई । केडिया जी ने चित्रालंकार का सविस्तृत निरूपण कर पूर्ववर्ती चिन्तकों की अपेक्षा इस ओर अधिक रुचि दिखाई । पोद्दार जी ने श्लेष शब्दालंकार है या अर्थालंकार, रूपक और अपह्नुति में भेद, समासोक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों के भेदों का युक्ति युक्त निरूपण किया । मिश्र जी ने प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपना कर रसास्वाद के लिए समन्वित मनदण्ड स्थिर किया । अनुवाद में अर्थगर्भिता का अभाव है । समासोक्ति के लिए स्पीच आफ ब्रिविटी अनुवाद इसका सदोष उदाहरण है ।

नवीन दृष्टि के पुनराख्याता आलंकारिकों में आचार्य शुक्ल, डा० रसाल, डा० गुलाब-राय, तथा डा० नगेन्द्र ने अलंकारों की परिभाषा, अलंकारों का काव्य में स्थान, अलंकारों का वर्गीकरण तथा अलंकारों की संख्या निर्धारण पर प्रौढ़ विचार प्रस्तुत किए । शुक्ल जी ने चिन्तामणि, प्रथम भाग पृष्ठ १८१ पर वस्तु या व्यापार की भावना को चटकीली करने वाले कथन के ढंग को अलंकार कहकर वस्तु निर्देश मात्र का तिरस्कार किया । डा०रसाल ने अलंकार पीयूष (पृष्ठ २६) में वर्ण्य तथा वर्णन में काव्य सौन्दर्य को व्यापकार्थ में तथा चमत्कार विधान को संकीर्णार्थ में अलंकार माना । डा० गुलाब राय ने सिद्धान्त और अध्ययन (पृष्ठ ३२) में शोभा धायक धर्म को अलंकार की संज्ञा दी । डा० नागेन्द्र ने काव्य शोभा के साधन मात्र को रीतिकाव्य की भूमिका में (पृष्ठ ७०) अलंकार कहा ।

अलंकारों की उपादेयता पर मिश्र बन्धुओं ने संस्कृत आचार्यों में आनन्दवर्धन और मम्मट आदि द्वारा संकेतित अलंकार प्रधान काव्य की प्रथम संज्ञा का विरोध करते हुए सयुक्ति विचार किया है । साहित्य पारिजात में इसका विस्तृत विवेचन हुआ है । राम दहिन मिश्र ने सादृश्य, विरोध और भाव साहचर्य के आधार पर अलंकारों की काव्योपयोगिता सिद्ध की है । आचार्य शुक्ल ने अप्रस्तुत रूप विधान के स्पष्टीकरण के लिए रस मीमांसा (पृष्ठ ३५१-५५) में अलंकारों का सम्बन्ध कल्पनातत्व से स्थापित कर के भावसत्ता पोषण के रूप में अलंकारत्व कि सिद्धि मानी है । डा० नगेन्द्र भावोद्दीपन से उद्दीप्त वाणी को अनायास अलंकृत मान कर अलंकारों को प्रेम, आत्मप्रदर्शन तथा प्रदर्शनगत अतिशय का अनिवार्यतत्व मानते

हैं। भावगत रमणीयता तथा उक्तिगत रमणीयता का सोदाहरण सूक्ष्म विवेचन नगेन्द्र जी ने ही किया है। इस प्रकार सभी आचार्यों ने अलंकार को काव्य का नितान्त उपयोगी तत्व माना है। हिन्दी में कवि की मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण के सन्दर्भ में अलंकार स्वरूप मीमांसा के उक्त सूत्र महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

संस्कृत साहित्यशास्त्र के मूलभूत चार अलंकार अभिवृद्ध होते हुए १२४ की संख्या तक जा पहुंचे। शब्द और अर्थ के आधार पर प्रस्तुत रुद्रट का नववर्गीय विवेचन ही परवर्ती संस्कृत साहित्यशास्त्र में व्यवहृत हुआ। पोद्दार, डा० रसाल ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। पोद्दार जी ने रूय्यक का अनुकरण करते हुए भी अलंकारों की संख्या में स्वतन्त्रता अपनाई। केडिया जी ने शब्दालंकार और अर्थालंकार का स्थूल वर्गीकरण ही अपनाया। डा० रसाल ने आवृति मूलक शब्दालंकार, तथा चित्र रूप शब्दालंकार, शब्दालंकारों के दो भेद प्रस्तुत किये। आवृत्ति मूलक शब्दालंकारों, के भी वर्णावृत्ति सम्बद्ध, पदावृति, सम्बद्ध, शब्दावृति सम्बद्ध तथा मिश्रालंकार और उभयालंकार के श्रम साध्य भेद उन्होंने प्रस्तुत किये। डा० नगेन्द्र ने यद्यपि मिश्रालंकार और उभयालंकार में भेद मानने का विरोध किया है। राम दहिन मिश्र ने संासर-संसृष्टि को उक्त भेदों की अपेक्षा सम्मिलितालंकार नाम दिया। डा० नगेन्द्र ने स्पष्टता, विस्तार, आश्चय, प्रन्विति जिज्ञासा तथा कुतूहल के आधार पर साधर्म्य अतिशय, वैषम्य, औचित्य वक्रता तथा चमत्कार का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया। श्यामसुन्दर दास का साम्य, विरोध तथा सान्निध्य वाला वर्गीकरण प्रो० वेन के आधार पर हुआ है, अतः उसमें कोई मौलिकता नहीं।

अलंकारों की संख्या की दृष्टि से मुरारिदान ने अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्व रूप, अप्रत्यनीक, प्रभेद, आभास, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, संकोच, संस्कार नये अलंकार निर्दिष्ट किये हैं। भानु जी ने परिहासापन्हुति भेद नवीन प्रस्तुत किया। केडिया जी ने अलंकार आशय के निर्माता उतमचन्द भण्डारी के अनुरूप वैप सगाई का अतिरिक्त विवेचन किया है। मिश्र बन्धु प्रमाणालंकार के ८ भेद, विधि, मुद्रा, रत्नावली तथा अनुगुण को चमत्काराभाव के कारण विसर्जनीय मानते हैं। विषादन, प्रतिषेध, अवज्ञा, लेश तथा निरुक्ति का परित्याग भी वह अप्रमुखता के कारण करने की प्रेरणा देते हैं। आचार्य शुक्ल और डा० नगेन्द्र व्यापक भूमि पर परम्परागत अलकारों की निश्चित संख्या स्वीकार करते हैं। राम दहिन मिश्र ने मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यंजना तथा विशेषण विपर्यय और डा० नगेन्द्र ने व्यंजना मूलक पाश्चात्य अलंकारों का आधुनिक हिन्दी काव्य के परीक्षार्थ प्रतिपादन किया है।

ऐतिहासिक पर्यालोचन की दृष्टि से डा० ओम्प्रकाश का हिन्दी अलंकार साहित्य तथा डा० भगीरथ मिश्र का हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास विषय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। डा० भोलाशकर व्यास कृत भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार पुस्तक इस दृष्टि से

पठनीय है । व्यास जी ने अद्यतन उपलब्ध विवेचन को पाण्डित्यपूर्ण शैली में इस कृति में प्रस्तुत किया है । हिन्दी कवियों के प्रामाणिक उदाहरणों ने विषय को और भी उपयोगी तथा सुलभ बना दिया है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्रणीत वांग्मय विमर्ष, आचार्य बलदेव उपाध्याय कृत भारतीय साहित्यशास्त्र, डा० विजयेन्द्र स्नातक कृत अलंकारशास्त्र तथा विष्णु-दत्त राकेश कृत तुलनात्मक साहित्यशास्त्र संस्कृत तथा हिन्दी में अलंकार विकास की ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाले ग्रंथ हैं । भारतीय भाषाओं में तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से डा० मनोहर काले का आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन महत्वपूर्ण कृति है ।

१८

अभिनव साहित्य–दर्शन की अपेक्षा है

डॉ० विश्वनाथ मिश्र

साहित्य को आज आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, आत्मान्वेषण का प्रयास, आत्मोपलब्धि का एक स्वरूप कहा जाने लगा है। इन नवीन मान्यताओं के फलस्वरूप साहित्य की पूर्व धारणाएँ, पूर्व और पश्चिम दोनों को ही, अस्वीकार्य हो गयी हैं। इसीलिए आज भारतीय आचार्यों द्वारा समय समय पर प्रस्तुत विभिन्न काव्य-परिभाषाएँ—अलंकृत रचना ही काव्य है, 'रीति आत्मा काव्यस्य,' 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्', काव्यस्यात्मा ध्वनि,' 'रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्' आदि—माननीय नहीं रह गयी हैं। इसी प्रकार पाश्चात्य विचारकों द्वारा उपस्थिति साहित्य संबधी विचार—'काव्य अन्तः प्रेरणा का प्रकाशन है' सभी कलाएँ, साहित्य की, मनुष्य की अनुकरणशीलता की प्रवृत्ति का उद्‌घाटन है, साहित्य उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है आदि भी—मान्य नहीं रह गये हैं। आधुनिक साहित्य का अध्ययन तथा आधुनिक दृष्टि से प्राचीन एवं मध्ययुगीन साहित्य का अनुशीलन भी, आधुनिक साहित्य-बोध को लेकर ही संभव है। इसीलिए आज आधुनिक बोध को लेकर साहित्य के अभिनव आख्यान, साहित्य-दर्शन के अभिनवीकरण की अपेक्षा है।

अभी हमने आधुनिक बोध को लेकर साहित्य के अभिनय व्याख्यान की अपेक्षा स्वीकार की है: इस प्रसंग में इसलिए आधुनिक-बोध की सम्यक विवेचना अपेक्षित है। आधुनिक-बोध, इस जगत के जीवन-प्रवाह के प्राचीन एवं मध्ययुगीन बोध से सर्वथा पृथक् है। प्राचीनों ने अध्यात्मपरक जीवन-दृष्टि को लेकर—इस जगत के मूल में एक रहस्यमय सत्ता को स्वीकार करते हुए—विश्व के जीवन-प्रवाह की व्याख्या उपस्थित की थी। मध्ययुगीन आचार्यों ने उसी सत्ता के प्रति सम्पूर्ण मन से भक्ति भावना में विभोर होकर अथवा इस जगत के राजाओं, महाराजाओं आदि में उसी ईश्वरीय सत्ता का आभास स्वीकार करते हुए उनके प्रति पूर्ण निष्ठा के साथ इस संसार के विभिन्न क्रिया-कलापों का वर्णन किया था। आधुनिक विचारक भौतिकवादी हैं। इस जगत की सत्ता पर उनकी पूर्ण आस्था है। वह जीवन की बुद्धि परक व्याख्या उपस्थित करता है: इस जगत के सभी क्रिया-कलापों को कारण-कार्य-शृंखला में आवद्ध मानता है। प्राचीन विचारक रहस्यवादी था; मध्ययुगीन ईश्वर अथवा उसके स्वीकृत प्रतिनिधि का भक्त; और आज का तर्कशील; यथार्थोन्मुख और बुद्धिवादी है। अन्य शब्दों में कहा जाय जो आज का विचारक वैज्ञानिक है अथवा वैज्ञानिक जीवन दृष्टि से सम्पन्न है जो इस जगत को यथार्थ मानकर उसके विभिन्न कार्यों एवं व्यापारों की बुद्धि परक, तर्कशील व्याख्या उपस्थित करता है। इसीलिए आज ज्ञान-विज्ञान की सभी

धाराएँ अर्थशास्त्र, राजनीति, सामाज विज्ञान, रसायन, भौतिकी, भूगर्भ-शास्त्र, वनस्पतिविज्ञान आदि अध्ययन-अनुशीलन के वैज्ञानिक विधि—प्रयोग, विश्लेषण और विवेचन की पद्धति को स्वीकार करते हैं। साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन में भी आज इसी वैज्ञानिक विधि के उपयोग की अपेक्षा है। इसी वैज्ञानिक विधि को लेकर आज हमें साहित्य के मूल्य तत्व का अनुसंधान, उसका तात्विक विश्लेषण, प्रेरणाओं की खोज, प्रयोजन का निरूपण, आस्वाद का विवेचन आदि करना चाहिए। आधुनिक बोध को लेकर साहित्य के विवेचन को इस प्रकार साहित्य की विज्ञान परक व्याख्या कहा जा सकता है : और साहित्य-शास्त्र को ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम धाराओं के समकक्ष लाने के लिए, इसकी अपेक्षा स्वयं सिद्ध है।

साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए विभिन्न विज्ञानों की भाँति साहित्य के भी प्रयोगात्मक अध्ययन की अपेक्षा है। इसके लिए आवश्यक होगा कि साहित्यिक अध्ययन में भी प्रयोगशालाओं एवं उनकी अध्ययन पद्धति का उपयोग किया जाय। आधुनिक साहित्यकार जब साहित्य को आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति घोषित करता है तो हमें उससे पूछना चाहिए कि आत्मा से उसका क्या तात्पर्य है ? अनुभूति शब्द का प्रयोग यह किस अर्थ में कर रहा है ? उसकी आत्मानुभूति उसकी अभिव्यक्ति को कहाँ तक अनुशासित करती है ? आदि आदि। समाज विज्ञान को इसी प्रयोगात्मक पद्धति, प्रश्नावलियों और उनके उत्तरों के विश्लेषण, सांख्यिकी की अध्ययन प्रणाली के आयोग से साहित्य के संबंध में नवीन सत्यों की उपलब्धि होगी जिनसे अनेक प्रचलित धारणाओं का खंडन-मंडन होगा।

आधुनिक साहित्यकार जब साहित्य सृजन और उसके अध्ययन-अनुशीलन दोनों ही प्रकार की प्रक्रियाओं को आत्मान्वेषण के प्रयास के रूप में देखता है तो प्रचीन अध्यात्म-दर्शन या मध्युगीन नैतिक-दृष्टि को छोड़कर आधुनिक मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण सिद्धान्त आदि के आधार पर मनुष्य के मनोजगत को नवीन रूप में देखना चाहता है, समझना चाहता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने विभिन्न मनः चेष्टाओं, भावना, विचार, कल्पना, स्मृति, अनुमान, दिवास्वप्न, स्वप्नदर्शन आदि की जो व्याख्याएँ उपस्थित की हैं उनके आलोक में, साहित्य की मूल प्रेरणाओं, साहित्य के विभिन्न तत्वों, साहित्य के आस्वाद आदि के पुनर्व्याख्यान की अपेक्षा है। आज जिस प्रकार यह स्वीकार्य नहीं रहा है कि बादल देवराज इन्द्र के अनुचर हैं और उन्हीं के आदेश से वर्षा करते हैं ; गंगा भगवान विष्णु का चरणोदक है ; चन्द्रमा एक देवता विशेष है और हम सभी का मामा लगता है ; उसी प्रकार साहित्य भगवत प्रेरणा की सृष्टि है, उसका आस्वाद निश्चित रूप में आनन्दयम है, काव्य ब्रह्मानन्द सहोदर है आदि भी माननीय नहीं रह गये हैं। इस प्रकार की सभी मान्यताओं के वैज्ञानिक परीक्षण की अपेक्षा है तभी वास्तविक साहित्यिक बोध की सृष्टि हो सकेगी।

आधुनिक साहित्यकार साहित्य को आत्मोपलब्धि के साधन के रूप में भी देखता है। उसके लिए साहित्य सृजन की प्रक्रिया आत्मबोध का एक प्रयास है। साहित्य सृजन की

प्रक्रिया में संलग्न रहकर वह अपने सम्बन्ध में अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेता है अपनी भाव-धारा विचारधारा, जीवन-दर्शन आदि को अधिक भली प्रकार समझ लेता है। सामाजिक भी उसकी कृतियों के अध्ययन अनुशीलन से उसके सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक परिचय प्राप्त कर लेता है। सामाजिक का यह बोध केवल साहित्यकार के व्यक्तित्व के बोध ही तक सीमित नहीं रहता; वह हमारे आगे हमारे अपने मन का द्वार भी खोल देता है : हम अपने मनोजगत के विभिन्न प्रकोष्ठों में विहार करने लगते हैं। सामाजिक को भी इस प्रकार साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन से आत्मोपलब्धि होती है और कालान्तर में साहित्यकार का या अपना ही मन नहीं मानव मात्र का मन हमारे आगे हस्तामलकवत हो जाता है। भारतीय और पाश्चात्य, प्राचीन और आधुनिक सभी देशों और कालों के साहित्याचार्यों ने साहित्य के अध्ययन की इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को स्वीकार किया है : आज प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की प्रणाली से इसे और भली प्रकार समझा जा सकता है।

साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष को लेकर भी कुछ नये विचार सामने आ रहे हैं, अध्ययन की नयी प्रणालियाँ विकसित हो रही हैं : साहित्य को आज भाषा का व्यक्तिनिष्ठ प्रयोग अथवा उसमें आत्म प्रतिष्ठा का प्रमाण घोषित किया जाता है : इसी नयी धारणा को लेकर मनोभाषाविज्ञान नाम की, ज्ञान की एक नयी धारा विकसित हो रही है। प्रसादजी ने जब छायावादी कवियों की भाषा को उनके आन्तरिक स्पर्श से पुलकित कहा, तो वे भी वस्तुतः इसी दिशा की ओर संकेत कर रहे थे। मनोभाषा विज्ञान साहित्यकार विशेष अथवा विशिष्ट साहित्यिक कृति की भाषा को मनोविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करने की नयी दिशा प्रदान करता है। साहित्यिक भाषा का यह मनोवैज्ञानिक अध्ययन साहित्यकार के अपने मनोभावों एवं सामाजिक पर उसके पड़ने वाले मानसिक प्रभाव दोनों ही दृष्टियों से सम्भव है। किसी भी भाषा की शब्दावली वस्तुतः अरूप मुद्रा होती है जिसके माध्यम से उसे बोलने वाले परस्पर अपने भावों, विचारों इच्छाओं और आकांक्षाओं आदि का आदान-प्रदान करते हैं। साहित्यकार विशेष भावुक, विशेष विचार-प्रवण, विशेष अनुभूतिशील होता है इसलिए वह शब्दों में नयी अर्थ भंगिमा, नूतन भाव-बोध, नवीन विचार सरणियों की प्रतिष्ठा कर देता है। उसकी प्रतिभा का स्पर्श शब्दों में नयी चमक ला देता है; नवीन सम्प्रेषण शक्ति भर देता है। मनोविज्ञान भाषा के इसी व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप का अध्ययन करता है; और साहित्य-दर्शन के अभिनव संविधान में उसे भी स्थान मिलना चाहिए।

साहित्यिक भाषा के अध्ययन की एक और नयी प्रणाली शैलीविज्ञान का भी इधर समारम्भ हुआ है। अध्ययन की यह प्रणाली विषयनिष्ठ दृष्टि से साहित्यिक भाषा का विश्लेषण उपस्थित करती है। इसके अन्तर्गत शब्द के ध्वन्यात्मक स्वरूप से लेकर उसके संगठन के विभिन्न प्रकारों तक का अनुशीलन हो जाता है। साहित्य तो वस्तुतः भाषा का प्रभावपूर्ण प्रयोग है, इसी विचार को दृष्टि में रख कर शैली-वैज्ञानिक यह खोजने का प्रयत्न करता है कि साहित्य में अभिव्यञ्जना की कितनी प्रणालियाँ अपनायी जाती हैं और उनका अलग

अन्तरंग कैसा संविधान होता है। यह विज्ञान इस प्रकार शब्द चयन, शब्द संगठन, मुहावरों, कहावतों, सूक्तियों, अलंकारों, लक्षण, व्यञ्जना आदि के प्रयोग पर नवीन प्रकाश डालता है। यह अध्ययन संस्कृत काव्य शास्त्र की भाषा की वृत्तियों, पदरचना की रीतियों, वचन की विचित्र भंगिमाओं, लाक्षणिक प्रयोगों, व्यंग्य आदि को तो समाहित किये हुए है ही, शैली के अध्ययन को व्यक्ति-विशेष की सीमा से मुक्त करके सामान्य प्रवृत्ति के रूप में अनुशीलन की बात कहता है और साहित्य के शास्त्रीय अध्ययन में एक नया अध्याय जोड़ता है।

साहित्य के दार्शनिक विश्लेषण एवं वैज्ञानिक अनुशीलन को लेकर इधर जो कुछ नये विचार सामने आये हैं उसका यह संक्षिप्त विवरण यह स्पष्ट कर देता है कि साहित्य-दर्शन के अभिनवीकरण की आज कितनी अपेक्षा है। साहित्य का वैज्ञानिक व्याख्यान ही ज्ञान की इस धारा को आधुनिक बोध से अनुप्राणित कर सकेगा और उसे ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम धाराओं के स्तर तक उठा सकेगा। साहित्य दर्शन के इस अभिनवीकरण के लिए आज यह आवश्यक है कि हम प्रयोगात्मक अनुशीलन की वैज्ञानिक प्रणाली अपनाएँ, समाज-शास्त्र की तथ्य संकलन की विधियों का उपयोग करें; सांख्यिकी की विश्लेषणात्मक अध्ययन की प्रणाली व्यवहार में लायें। इस अध्ययन में मनोविज्ञान, मनोभाषा विज्ञान और शैली-विज्ञान आदि ज्ञान की कुछ नयी धाराएँ हमारे लिए विशेष सहायक सिद्ध होंगी।

१६

रहस्यवाद

आधुनिक हिन्दी काव्य के आधार पर एक परिचय

डॉ० विश्वनाथ गौड़

रहस्य भावना मनुष्य की एक अत्यन्त स्वाभाविक मनोवृत्ति है और इसका प्रकाशन धर्म, दर्शन, साहित्य, साधना और भक्ति में प्रायः सर्वत्र हुआ है। अंग्रेजी साहित्य और हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य में यह रहस्यभावना एक निश्चित और सुव्यस्थित रूप लेकर चली है। इस भावना से अनुप्राणित काव्य रहस्यवादी काव्य कहलाता है। जिस काव्य में कवि की दृष्टि जीवन और जगत् के व्यक्त क्षेत्र से हटकर, उसके अव्यक्त पक्ष की ओर, जो कि व्यक्त में ओतप्रोत है, पाती है उसे रहस्यवादी काव्य कहते हैं। दृश्य जगत् के विविध नाम-रूपों में व्याप्त एक अगोचर तत्व के भावात्मक आभासों से सम्पन्न काव्य मध्य-युग के निर्गुण-पंथी साहित्य में भी प्राप्त होता है परन्तु आरम्भ में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग इन कवियों के लिए नहीं होता था। २० वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में जब बंगला और अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी में छायावाद का प्रचलन हुआ तब इसकी आलोचना और प्रत्यालोचना के प्रसंग में इस शब्द का भी व्यवहार आरम्भ हुआ। उस ससय विश्व-साहित्य में हलचल मचा देने वाली रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताञ्जलि को देशी विदेशी सभी विद्वानों ने 'मिस्टिक' कहा और उस प्रकार के काव्य की विशेषताओं को मिस्टिसिजम कहने लगे। रहस्यवाद इसी शब्द का हिन्दी अनुवाद है। धीरे-धीरे हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों ने इस शब्द को स्वीकार कर लिया और इसके अन्तर्गत एक विशेष प्रकार के काव्य का परिगणन करने लगे।

हिन्दी का यह आधुनिक रहस्यवादी काव्य, वस्तुतः, अंग्रेजी की रोमाण्टिक काव्य-धारा से प्रभावित है। इसके अनुगामियों ने इसके शास्त्रीय पक्ष की स्थापना का प्रयत्न भी किया। हिन्दी में विशेष रूप से प्रसाद और महादेवी ने इसके भारतीय उद्गम-सूत्रों का अनुसन्धान करके अपने मतवाद को पुष्ट किया।

हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी काव्य का यदि अनुशीलन किया जाय तो इसकी कुछ स्वरूपगत विशेषताएँ उद्घाटित होती हैं। रहस्यवादी काव्य की मूल विशेषताएँ कवि की परोक्ष के प्रति जिज्ञासा, भाव के द्वारा उस परोक्ष-सत्ता का आभास देखना, उसके प्रति असीम वेदना की अनुभूति होना तथा उससे तादात्म्य की भावना हैं। काव्य में इस भावना का उदय वाह्यार्थ-प्रधानता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। इसमें चित्तवृत्ति वाह्य-जगत्

से हट कर अन्तर्मुखी और अहंविशिष्ट हो जाती है। दर्शनों में परोक्ष-सत्ता के ज्ञान की उपलब्धि बौद्धिक क्रिया द्वारा होती है। भाव की गंभीर दशा में उस परोक्ष-ज्ञान की उपलब्धि स्वानुभूति या intution, द्वारा होती है। इसे ही ब्लेक ने 'कवि-कल्पना' कहा है। यह स्वानुभूति नितान्त वैयक्तिक होती है। इसी कारण रहस्यवादी अनुभूति को भी 'अहंपरक' ही कहा गया है। आत्मा अपनी भीतरी उड़ानों में इस स्वानुभूति को प्राप्त करती है। आत्मा ही अपनी भीतरी उड़ानों में दृश्य और व्यक्त जगत् का सम्बन्ध अदृश्य और अव्यक्त के साथ करती है और यह रहस्यवाद की एक सर्वसम्मत विशेषता है। आत्मा की भीतरी उड़ान में अथवा कवि-कल्पना द्वारा जिस परोक्ष-ज्ञान की उपलब्धि होती है वह व्यक्तिगत होने के कारण रहस्यमय होता है। वह गूँगे के गुड़ की भांति अनिर्वचनीय होता है। मनोवृत्ति की चंचलता के कारण यह क्षणिक होता है। इसमें शरीर-व्यापार का अभाव और केवल मानसिक सक्रियता होने के कारण यह निष्क्रिय भी होता है।

परोक्ष के लिए आत्मा की यह जिज्ञासा और उससे एकतान होने की उत्कट कामना एक देश-काल-निरपेक्ष सार्वभौम तत्व है। साँस्कृतिक परिवेश की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों में इसके रूप कुछ भिन्न रूप में आभासित होते हैं। किन्तु यह भेद केवल आपाततः प्रतीयमान है, पारमार्थिक नहीं। उदाहरण के लिए ब्लेक और कबीर का नामोल्लेख किया जा सकता है। ब्लेक का रहस्यवाद 'दिव्य-कल्पनावाद' पर आधारित है और कबीर का अन्तर्मुखी योगसाधना पर। फल की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

आधुनिक हिन्दी काव्य में जो रहस्यवाद उपलब्ध होता है उस पर भारतीय दर्शन की रहस्य-भावना, मध्ययुगीन निर्गुण-पंथी काव्य तथा पाश्चात्य रहस्यवादी कवि की सम्मिलित प्रभाव है। उपनिषदों में रहस्यवाद की सारी सामग्री सुनियोजित रूप में मिल जाती है। उस एक अव्यक्त तत्व के भावात्मक आभासों और उसके प्रति गहरी वेदना की अनुभूति की प्रेरणा मध्ययुगीन सन्तों और सूफियों ने दी। फिर अंग्रेजी रहस्यवादी कवियों के प्रभाव से इस काव्य-धारा में प्राच्य और पाश्चात्य परम्पराओं का सुन्दर समन्वय हुआ। इस प्रकार आधुनिक रहस्यवादी काव्य-धारा ने अपना जो रूप-विधान किया वह मध्ययुगीन रहस्यवादी काव्य से भिन्न है।

मध्ययुगीन रहस्यवाद में जिस सम्प्रदाय-गत साधना का संनिवेश है वह आज के रहस्यवाद में बिल्कुल नहीं है। आज का रहस्यवाद अपनी विशुद्ध वैयक्तिता के कारण गीतात्मक है। परोक्षानुभूति के कारण कवि-हृदय में उठने वाली तीव्र संवेदनाओं के प्रबल उद्गार इसमें हैं। अतः गीति-काव्य की विशेषताएँ इसमें अपने आप आगई हैं। कबीर में भाव-प्रधान गीतात्मकता के स्थान पर बौद्धिक चमत्कार की प्रधानता है। अतः आपका रहस्यवाद भावानुभूति प्रधान है और उसकी शैली गीतात्मक है। धार्मिक दृष्टिकोण के कारण पुराने कवियों में गोचर जगत् की अवहेलना का भाव और ईश्वर के समक्ष अपनी दीनता का भाव है। आधुनिक रहस्यवाद में न तो दृश्यजगत् की उतनी उपेक्षा है और न आत्म

दैन्य। इसमें व्यक्ति को महत्व दिया गया है पुराने कवियों में जगत्-पराङ्मुखता के कारण एक सन्तोष की भावना है। पर आज का रहस्यवादी कवि पार्थिव परिवेश की विषमता के कारण एक प्रकार के तीव्र असन्तोष को पाल रहा है। आज के रहस्यवाद में प्रेम, सौन्दर्य की भावना, छायावादी परिष्कार के कारण, अधिक संवेगपूर्ण, व्यापक और गहरी है।

आध्यात्मिक प्रेम आज के रहस्यवाद की एक प्रमुख विशेषता है। मध्यकालीन सन्तों और सूफियों ने अव्यक्त सत्ता को प्रियतम के रूप में स्वीकार किया और उसके प्रति गंभीर वेदना की अभिव्यक्ति की। अव्यक्त सत्ता के साथ आत्मैक्य की दशा को उन्होंने आध्यात्मिक विवाह कहा है। आध्यात्मिक प्रेम और विवाह की यह भावना ईसाई धर्म में भी प्रचलित थी। आज के रहस्यवाद में भी उस अव्यक्त सत्ता को प्रियतम के रूप में ग्रहण किया गया है। यह तत्व आज के रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा में सबसे अधिक है।

आज का रहस्यवाद पाश्चात्य मानवतावाद के सिद्धान्तों से भी प्रभावित है। इस मानवतावाद का उदय योरोप में १६ वीं शताब्दी की अतिभौतिकता के विरोध में हुआ था। आज के संघर्ष प्रधान आर्थिक युग में द्वेष, ईर्ष्या, कलह आदि दुर्वृत्तियों ने मानवता को खण्डित कर रक्खा है। आज के रहस्यवादी ने प्रेम और सद्वृत्तियों के एकान्त प्रसार द्वारा असद्वृत्तियों का उन्मूलन करना चाहा और प्रेम के द्वारा अखण्डमानवता की उपासना की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रसाद भी, दोनों ने ही यह भावना प्रकट की है। परन्तु इसके साथ ही इस रहस्यवाद में संघर्ष से पलायन की वृत्ति है। वर्तमान विषमताओं का परिहार करके एक आदर्श भविष्य की परिकल्पना भी इस रहस्यवाद में की गई है। परन्तु यह आदर्श भविष्य है अत्यन्त धूमिल और रहस्यमय अपार्थिव लोक में। कामायनी में श्रद्धा द्वारा मनु को जिस अखण्ड आनन्द की अनुभूति कराई गई है वह है एक अपार्थिव लोक में। पन्त को भी कोलाहल से दूर कहीं नीरव शान्त स्थान में ही शान्ति का दर्शन हुआ है। पलायन की इस वृत्ति पर वर्ड्सवर्थ के 'The world is two much with us' का प्रभाव प्रतीत होता है।

प्रकृति के प्रति विशेष प्रकार का दृष्टिकोण भी आज के रहस्यवाद की एक विशेषता है। मनुष्य के साथ प्रकृति का, प्रकृति के साथ मनुष्य का भावात्मक सौन्दर्य बहुत पुराना है। पर भौतिक दृष्टि के विकास के साथ साथ वह सम्बन्ध शिथिल होता गया है। अंग्रेजी की रोमाण्टिक काव्य-धारा के प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ ने 'Back to Nature' का सन्देश उस सम्बन्ध को पुनर्सज्जिवित करने की चेष्टा की। उनकी दृष्टि में प्रकृति एक अन्तश्चेतना से अनुप्राणित है। उनके प्रकृति चित्रण में सर्ववाद की झलक है। पहले भारतीय हृदय में भी प्रकृति के प्रति इसी प्रकार के सच्चे अनुराग पूर्ण भाव रहा करते थे जिनकी अभिव्यक्ति संस्कृत काव्य में बहुत अधिक हुई है। पर मध्ययुग में आकर ये संस्कार लुप्त हो गए थे। वर्ड्सवर्थ, शैली, मेरेडिथ, कीट्स आदि रोमाण्टिक कवियों के प्रभाव से वे प्रसुप्त संस्कार फिर जाग उठे। आज के रहस्यवादी कवि ने प्रकृति के भीतर एक अन्तश्चेतना का दर्शन

किया है। प्रकृति के उपादानों में परोक्ष-सत्ता का आभास देखने की प्रेरणा मध्ययुगीन सूफी कवियों ने भी दी है। असीम और ससीम का समन्वय प्रकृति ने ही कराया है। प्रकृति के झीने आवरण में एक व्यापक तत्व छिपा है। यह भावना हिन्दी में पन्त जी में सर्वाधिक रही है।

आज के युग में विज्ञान के द्वारा हमारे ज्ञान की परिधि का ज्यों-ज्यों विस्तार हुआ है उसने प्रकृति के प्रति हमारे दृष्टिकोण को अधिकाधिक जिज्ञासामय बनाया है। आज विज्ञान के द्वारा प्रकृति के अनेक रहस्य उद्घाटित होकर हमारे सामने आगए हैं। पर ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ रहा है त्यों-त्यों हमें अज्ञान की विशालता का अनुभव होता है और हमारे मन में नव-नव जिज्ञासाएँ उठती रहती हैं। साथ ही एक प्रकार की आकुलता भी बढ़ती चली जा रही है। रहस्यवादी कवि इस भावना से भी आविष्ट दिखाई देता है।

आज का रहस्यवाद इस वैज्ञानिक युग के बुद्धिवाद का खण्डन करता है। प्रकृति को जीतने की कामना बुद्धि के बल पर जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने का अभिमान, यंत्र-कौशल के अधिकाधिक विस्तार से अतिमानवीय शक्ति का संचय करने की दुराशा, आदि विज्ञान-युग की सभी प्रवृत्तियाँ अनर्थकारी हैं। कामायनी में इनका दुष्परिणाम प्रत्यक्ष दिखाया गया है और इनका विरोध किया गया है। श्रद्धा ही, जो कि हृदय की समस्त सद्वृतियों का सामुदायिक रूप है, जीवन की पूर्णता प्राप्त करा सकती है।

संक्षेप में आधुनिक रहस्यवाद के यही प्रमुख तत्व हैं। यदि इसके कलापक्ष पर विचार किया जाय तो इसकी शैली छायावादी है। इसकी भाषा चित्रमयी है। सांकेतिकता प्रतीक योजना और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता इसकी सम्पत्तियाँ हैं। अभिव्यक्ति इसकी गीतात्मक है। अप्रस्तुत-योजना में यह मूर्त के स्थान पर अमूर्त अधिक है। पुराने भारतीय अलंकारों के साथ इसमें पाश्चात्य अलंकारों के रुचिर प्रयोग मिलते हैं। इसकी छन्द-योजना पुराने बन्धनों को तोड़ कर गीतात्मक और स्वच्छन्द हो गई है। हिन्दी का यह आधुनिक रहस्यवादी काव्य हमारे साहित्य का एक मूल्यवान् अंग है।

दैन्य। इसमें व्यक्ति को महत्व दिया गया है पुराने कवियों में जगत्-पराङ्मुखता के कारण एक सन्तोष की भावना है। पर आज का रहस्यवादी कवि पार्थिव परिवेश की विषमता के कारण एक प्रकार के तीव्र असन्तोष को पाल रहा है। आज के रहस्यवाद में प्रेम, सौन्दर्य की भावना, छायावादी परिष्कार के कारण, अधिक संवेगपूर्ण, व्यापक और गहरी है।

आध्यात्मिक प्रेम आज के रहस्यवाद की एक प्रमुख विशेषता है। मध्यकालीन सन्तों और सूफियों ने अव्यक्त सत्ता को प्रियतम के रूप में स्वीकार किया और उसके प्रति गंभीर वेदना की अभिव्यक्त की। अव्यक्त सत्ता के साथ आत्मैक्य की दशा को उन्होंने आध्यात्मिक विवाह कहा है। आध्यात्मिक प्रेम और विवाह की यह भावना ईसाई धर्म में भी प्रचलित थी। आज के रहस्यवाद में भी उस अव्यक्त सत्ता को प्रियतम के रूप में ग्रहण किया गया है। यह तत्व आज के रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा में सबसे अधिक है।

आज का रहस्यवाद पाश्चात्य मानवतावाद के सिद्धान्तों से भी प्रभावित है। इस मानवतावाद का उदय योरोप में १९ वीं शताब्दी की अतिभौतिकता के विरोध में हुआ था। आज के संघर्ष प्रधान आर्थिक युग में द्वेष, ईर्ष्या, कलह आदि दुर्वृत्तियों ने मानवता को खण्डित कर रक्खा है। आज के रहस्यवादी ने प्रेम और सद्वृत्तियों के एकान्त प्रसार द्वारा असद्वृत्तियों का उन्मूलन करना चाहा और प्रेम के द्वारा अखण्डमानवता की उपासना की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रसाद भी, दोनों ने ही यह भावना प्रकट की है। परन्तु इसके साथ ही इस रहस्यवाद में संघर्ष से पलायन की वृत्ति है। वर्तमान विषमताओं का परिहार करके एक आदर्श भविष्य की परिकल्पना भी इस रहस्यवाद में की गई है। परन्तु यह आदर्श भविष्य है अत्यन्त धूमिल और रहस्यमय अपार्थिव लोक में। कामायनी में श्रद्धा द्वारा मनु को जिस अखण्ड आनन्द की अनुभूति कराई गई है वह है एक अपार्थिव लोक में। पन्त को भी कोलाहल से दूर कहीं नीरव शान्त स्थान में ही शान्ति का दर्शन हुआ है। पलायन की इस वृत्ति पर वर्ड्सवर्थ के 'The world is two much with us' का प्रभाव प्रतीत होता है।

प्रकृति के प्रति विशेष प्रकार का दृष्टिकोण भी आज के रहस्यवाद की एक विशेषता है। मनुष्य के साथ प्रकृति का, प्रकृति के साथ मनुष्य का भावात्मक सौन्दर्य बहुत पुराना है। पर भौतिक दृष्टि के विकास के साथ साथ वह सम्बन्ध शिथिल होता गया है। अंग्रेजी की रोमाण्टिक काव्य-धारा के प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ ने 'Back to Nature' का सन्देश उस सम्बन्ध को पुनसज्जिवित करने की चेष्टा की। उनकी दृष्टि में प्रकृति एक अन्तश्चेतना से अनुप्राणित है। उनके प्रकृति चित्रण में सर्ववाद की झलक है। पहले भारतीय हृदय में भी प्रकृति के प्रति इसी प्रकार के सच्चे अनुराग पूर्ण भाव रहा करते थे जिनकी अभिव्यक्ति संस्कृत काव्य में बहुत अधिक हुई है। पर मध्ययुग में आकर ये संस्कार लुप्त हो गए थे। वर्ड्सवर्थ, शैली, मेरेडिथ, कीट्स आदि रोमाण्टिक कवियों के प्रभाव से वे प्रसुप्त संस्कार फिर जाग उठे। आज के रहस्यवादी कवि ने प्रकृति के भीतर एक अन्तश्चेतना का दर्शन

किया है। प्रकृति के उपादानों में परोक्ष-सत्ता का आभास देखने की प्रेरणा मध्ययुगीन सूफी कवियों ने भी दी है। असीम और ससीम का समन्वय प्रकृति ने ही कराया है। प्रकृति के झीने आवरण में एक व्यापक तत्व छिपा है। यह भावना हिन्दी में पन्त जी में सर्वाधिक रही है।

आज के युग में विज्ञान के द्वारा हमारे ज्ञान की परिधि का ज्यों-ज्यों विस्तार हुआ है उसने प्रकृति के प्रति हमारे दृष्टिकोण को अधिकाधिक जिज्ञासामय बनाया है। आज विज्ञान के द्वारा प्रकृति के अनेक रहस्य उद्घाटित होकर हमारे सामने आगए हैं। पर ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ रहा है त्यों-त्यों हमें अज्ञान की विशालता का अनुभव होता है और हमारे मन में नव-नव जिज्ञासाएँ उठती रहती हैं। साथ ही एक प्रकार की आकुलता भी बढ़ती चली जा रही है। रहस्यवादी कवि इस भावना से भी आविष्ट दिखाई देता है।

आज का रहस्यवाद इस वैज्ञानिक युग के बुद्धिवाद का खण्डन करता है। प्रकृति को जीतने की कामना बुद्धि के बल पर जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने का अभिमान, यंत्र-कौशल के अधिकाधिक विस्तार से अतिमानवीय शक्ति का संचय करने की दुराशा, आदि विज्ञान-युग की सभी प्रवृत्तियाँ अनर्थकारी हैं। कामायनी में इनका दुष्परिणाम प्रत्यक्ष दिखाया गया है और इनका विरोध किया गया है। श्रद्धा ही, जो कि हृदय की समस्त सद्वृतियों का सामुदायिक रूप है, जीवन की पूर्णता प्राप्त करा सकती है।

संक्षेप में आधुनिक रहस्यवाद के यही प्रमुख तत्व हैं। यदि इसके कलापक्ष पर विचार किया जाय तो इसकी शैली छायावादी है। इसकी भाषा चित्रमयी है। सांकेतिकता प्रतीक योजना और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता इसकी सम्पत्तियाँ हैं। अभिव्यक्ति इसकी गीतात्मक है। अप्रस्तुत-योजना में यह मूर्त के स्थान पर अमूर्त अधिक है। पुराने भारतीय अलंकारों के साथ इसमें पाश्चात्य अलंकारों के रुचिर प्रयोग मिलते हैं। इसकी छन्द-योजना पुराने बन्धनों को तोड़ कर गीतात्मक और स्वच्छन्द हो गई है। हिन्दी का यह आधुनिक रहस्यवादी काव्य हमारे साहित्य का एक मूल्यवान् अंग है।

कितने अच्छे, औचित्यपूर्ण तथा वैज्ञानिक ढंग से क्रमबद्ध रूप में संयोजित कर सकता है। ध्यान देने की बात यह भी है कि ये दोनों योग्यताएं दो ऐसे क्षेत्रों से सम्बन्ध रखती हैं, जो परस्पर वैभिन्नय रखते हैं। इसलिए यदि किसी शोधकार्य में समीक्षा अथवा सम्पादन की कोई कमी रह जाती है तो इसका कारण यही होता है कि शोधकर्ता में उपर्युक्त दोनों योग्यताओं में से किसी का अभाव है।

व्यावहारिक दृष्टि से शोध कार्य में कर्ता को किसी क्षेत्र विशेष में विद्यमान किसी मुख्य समस्या अथवा किसी नवीन सिद्धान्त का प्रवर्तन अथवा व्याख्या करनी होती है। इसके लिए कुछ निश्चित कार्य और निर्धारित प्रक्रिया होती है, जिसके अनुसार कर्ता को कार्य करना होता है। ऐसा करते समय वह प्रायः दो प्रकार के उपायों का आश्रय लेता है। या तो वह ऐसा करता है कि 'विषय प्रवेश' अथवा 'पृष्ठभूमि' शीर्षक से अपने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में सूत्र रूप में उस विषय से सम्बन्ध रखने वाली समस्या को प्रस्तुत करके निर्धारित रूप रेखा के अनुसार क्रमशः उस पर कार्य आरम्भ कर देता है और इस प्रकार अपने मत का प्रतिपादन करता हुआ अन्त में उपसंहरात्मक रूप से उसका मंडन करता है। और या वह ऐसा करता है कि प्रारम्भिक वक्तव्य के रूप में ही उस मत या निष्कर्ष की घोषणा कर देता और उसे मान कर आगे चलता है, जिस पर अन्ततः उसे आना होता है। इनमें से पहले रूप को हम शोध का एक प्रकार अप्रकल्पनात्मक तथा दूसरे को उसका दूसरा प्रकार प्रकल्पनात्मक कह सकते हैं। यों ये दोनों ही शोध प्रकार वैज्ञानिक रूप से मान्य होते हैं, क्योंकि दोनों में ही जो मन्तव्य होते हैं वे तर्क द्वारा प्रमाणित होते हैं।

प्रायः शोध कार्य का स्वरूप निर्धारण करते समय उसके दो भिन्न प्रकार बताये जाते हैं। इनमें से प्रथम को वैज्ञानिक और द्वितीय को साहित्यिक शोध कहा जाता है। हमारे मत के अनुसार यह विभाजन औचित्यपूर्ण नहीं है। शोध एक व्यापक अर्थ का सूचक शब्द है, जिसका क्षेत्र विस्तार बहुत अधिक है। इसलिए यह विभाजन या तो अवांछनीय है और या अपूर्ण। क्योंकि यदि शोध साहित्यिक और वैज्ञानिक हो सकता है, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, अर्थशास्त्रीय, भाषावैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्रीय, राजनीति शास्त्रीय आदि भी।

यदि हम शोध को एक विज्ञान के रूप में मान्यता देते हैं, तो फिर इस विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता और वह भिन्न विषयों के क्षेत्र को अपने में समाविष्ट कर लेता है। और जहाँ तक वाङ्मय के विविध अंगों में शोध का सम्बन्ध है, उनमें विषयगत वैभिन्नय होते हुए भी प्रक्रियागत एकता है। फिर प्रत्येक कला अथवा विज्ञान के क्षेत्र में अपनी अलग आवश्यकताएं और समस्याएं होती हैं, जिनके ऊपर कार्य करना उस क्षेत्र के सजग शोध कर्ताओं का कार्य होता है। परन्तु यह कहना कि साहित्यिक शोध अवैज्ञानिक और वैज्ञानिक शोध वैज्ञानिक होती है, एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में शोध की महत्ता को कम करना है। शोध की सार्थकता इसी में होती है कि उसके माध्यम से सम्बद्ध क्षेत्र के उपलब्ध ज्ञान का विस्तार हो तथा इस या और किसी रूप में उसकी सार्थकता सिद्ध हो।

समीक्षा और शोध के क्षेत्रगत विस्तार के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस दृष्टिकोण से इनकी तुलना करना अनावश्यक है, क्योंकि समीक्षा और शोध दोनों ही स्वतन्त्र और मान्य शास्त्र तथा विज्ञान हैं। इसलिए यह कहना अधिक औचित्यपूर्ण न होगा कि शोध की अपेक्षा समीक्षा का अथवा समीक्षा की अपेक्षा शोध का क्षेत्र कम या अधिक विस्तार रखता है। वास्तव में इन दोनों का ही क्षेत्र स्वतंत्र और पर्याप्त विकसित है। दोनों में कभी कभी उद्देश्यगत या किसी और प्रकार की कोई समता अवश्य मिल जाती है अथवा प्रक्रियागत कोई विषमता भी मिल सकती है, परन्तु ऐसी किसी समता या विषमता के आधार पर इन दोनों में से किसी एक को हीनतर अथवा उच्चतर घोषित करने की चेष्टा करने लगना उचित नहीं। यह अवश्य हो सकता है कि कभी हमारे सामने कोई ऐसी कृति आये, जो समीक्षात्मक शोध कृति हो या कोई ऐसी रचना देखने का संयोग मिले जो शोधात्मक समीक्षा का उदाहरण हो। दोनों ही स्थितियों में यह या तो एक सयोग हो सकता है, जो विषय की एकरूपता के कारण अनिवार्यतः वैसा हुआ, और या वह शोधकर्ता अथवा समीक्षक की अयोग्ता सिद्ध करता है। लेकिन इसके आधार पर इन दोनों स्वतंत्र विषयों को किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध कर देना अथवा केवल इसी आधार पर इन दोनों का क्षेत्र संकुचित अथवा विस्तृत घोषित कर देना उचित नहीं है। वस्तुतः शास्त्रीय समीक्षा और वैज्ञानिक शोध दोनों का ही स्तरीय महत्व बहुत अधिक है और इन दोनों को ही वह महत्व प्राप्त है।

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियां लक्षित होती हैं। उनमें से एक शोधपरक भी है। बीसवीं शताब्दी में भारत विविध विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शोध कार्य के रूप में प्राचीन साहित्य की खोज और मूल्यांकन के साथ ही आधुनिक साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के विषय में भी वृहद् प्रबन्धों की रचना की गयी है। शोध के अनेक रूपों का निधारण हुआ है तथा उसकी वैज्ञानिक प्रणालियों की भी रचना हो रही है। उच्च शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ शोध कार्य का भी विकास होता रहा है। अब भारतवर्ष के विविध विश्वविद्यालयों मे हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी समीक्षा विषयक इतना अधिक कार्य हो रहा है कि इसकी एक स्वतंत्र शैली ही विकसित हो गयी है। इसी को हम शोधपरक समीक्षा की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बन्धित शोध कार्य के इतिहास को देखने पर यह ज्ञात होता है कि उसका आरम्भ विदेशी विश्वविद्यालयों में हुआ। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम सन् १९१८ में लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा 'तुलसीदास का धर्मदर्शन' अथवा 'थियालोजी आफ तुलसीदास' शीर्षक प्रबन्ध पर श्री जे० एन० कारपेंटर को 'डाक्टर आफ डिविनिटी' की उपाधि प्रधान की गयी। भारतीय विश्वविद्यालयों में सर्वप्रथम डा० बाबूराम सक्सेना को 'अवधी का विकास' अथवा 'ईवोल्यूशन आफ अवधी' शीर्षक प्रबन्ध पर प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट० उपाधि सन् १९३१ में प्रदान की गयी थी। उसी समय से हिन्दी में शोध कार्य का आरम्भ मानना चाहिए, जो इस प्रवृत्ति का रूप निर्धारक है।

कितने अच्छे, औचित्यपूर्ण तथा वैज्ञानिक ढंग से क्रमबद्ध रूप में संयोजित कर सकता है। ध्यान देने की बात यह भी है कि ये दोनों योग्यताएं दो ऐसे क्षेत्रों से सम्बन्ध रखती हैं, जो परस्पर वैभिन्नय रखते हैं। इसलिए यदि किसी शोधकार्य में समीक्षा अथवा सम्पादन की कोई कमी रह जाती है तो इसका कारण यही होता है कि शोधकर्ता में उपर्युक्त दोनों योग्यताओं में से किसी का अभाव है।

व्यावहारिक दृष्टि से शोध कार्य में कर्ता को किसी क्षेत्र विशेष में विद्यमान किसी मुख्य समस्या अथवा किसी नवीन सिद्धान्त का प्रवर्तन अथवा व्याख्या करनी होती है। इसके लिए कुछ निश्चित कार्य और निर्धारित प्रक्रिया होती है, जिसके अनुसार कर्ता को कार्य करना होता है। ऐसा करते समय वह प्रायः दो प्रकार के उपायों का आश्रय लेता है। या तो वह ऐसा करता है कि 'विषय प्रवेश' अथवा 'पृष्ठभूमि' शीर्षक से अपने प्रवन्ध के प्रथम अध्याय में सूत्र रूप में उस विषय से सम्बन्ध रखने वाली समस्या को प्रस्तुत करके निर्धारित रूप रेखा के अनुसार क्रमशः उस पर कार्य आरम्भ कर देता है और इस प्रकार अपने मत का प्रतिपादन करता हुआ अन्त में उपसंहरात्मक रूप से उसका मंडन करता है। और या वह ऐसा करता है कि प्रारम्भिक वक्तव्य के रूप में ही उस मत या निष्कर्ष की घोषणा कर देता और उसे मान कर आगे चलता है, जिस पर अन्ततः उसे आना होता है। इनमें से पहले रूप को हम शोध का एक प्रकार अप्रकल्पनात्मक तथा दूसरे को उसका दूसरा प्रकार प्रकल्पनात्मक कह सकते हैं। यों ये दोनों ही शोध प्रकार वैज्ञानिक रूप से मान्य होते हैं, क्योंकि दोनों में ही जो मन्तव्य होते हैं वे तर्क द्वारा प्रमाणित होते हैं।

प्रायः शोध कार्य का स्वरूप निर्धारण करते समय उसके दो भिन्न प्रकार बताये जाते हैं। इनमें से प्रथम को वैज्ञानिक और द्वितीय को साहित्यिक शोध कहा जाता है। हमारे मत के अनुसार यह विभाजन औचित्यपूर्ण नहीं है। शोध एक व्यापक अर्थ का सूचक शब्द है, जिसका क्षेत्र विस्तार बहुत अधिक है। इसलिए यह विभाजन या तो अवांछनीय है और या अपूर्ण। क्योंकि यदि शोध साहित्यिक और वैज्ञानिक हो सकता है, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, अर्थशास्त्रीय, भाषावैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्रीय, राजनीति शास्त्रीय आदि भी।

यदि हम शोध को एक विज्ञान के रूप में मान्यता देते हैं, तो फिर इस विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता और वह भिन्न विषयों के क्षेत्र को अपने में समाविष्ट कर लेता है। और जहाँ तक वाङ्मय के विविध अंगों में शोध का सम्बन्ध है, उनमें विषयगत वैभिन्नय होते हुए भी प्रक्रियागत एकता है। फिर प्रत्येक कला अथवा विज्ञान के क्षेत्र में अपनी अलग आवश्यकताएं और समस्याएं होती हैं, जिनके ऊपर कार्य करना उस क्षेत्र के सजग शोध कर्ताओं का कार्य होता है। परन्तु यह कहना कि साहित्यिक शोध अवैज्ञानिक और वैज्ञानिक शोध वैज्ञानिक होती है, एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में शोध की महत्ता को कम करना है। शोध की सार्थकता इसी में होती है कि उसके माध्यम से सम्बद्ध क्षेत्र के उपलब्ध ज्ञान का विस्तार हो तथा इस या और किसी रूप में उसकी सार्थकता सिद्ध हो।

समीक्षा और शोध के क्षेत्रगत विस्तार के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस दृष्टिकोण से इनकी तुलना करना अनावश्यक है, क्योंकि समीक्षा और शोध दोनों ही स्वतन्त्र और मान्य शास्त्र तथा विज्ञान हैं। इसलिए यह कहना अधिक औचित्यपूर्ण न होगा कि शोध की अपेक्षा समीक्षा का अथवा समीक्षा की अपेक्षा शोध का क्षेत्र कम या अधिक विस्तार रखता है। वास्तव में इन दोनों का ही क्षेत्र स्वतंत्र और पर्याप्त विकसित है। दोनों में कभी कभी उद्देश्यगत या किसी और प्रकार की कोई समता अवश्य मिल जाती है अथवा प्रक्रियागत कोई विषमता भी मिल सकती है, परन्तु ऐसी किसी समता या विषमता के आधार पर इन दोनों में से किसी एक को हीनतर अथवा उच्चतर घोषित करने की चेष्टा करने लगना उचित नहीं। यह अवश्य हो सकता है कि कभी हमारे सामने कोई ऐसी कृति आये, जो समीक्षात्मक शोध कृति हो या कोई ऐसी रचना देखने का संयोग मिले जो शोधात्मक समीक्षा का उदाहरण हो। दोनों ही स्थितियों में यह या तो एक संयोग हो सकता है, जो विषय की एकरूपता के कारण अनिवार्यतः वैसा हुआ, और या वह शोधकर्ता अथवा समीक्षक की अयोग्ता सिद्ध करता है। लेकिन इसके आधार पर इन दोनो स्वतंत्र विषयों को किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध कर देना अथवा केवल इसी आधार पर इन दोनों का क्षेत्र संकुचित अथवा विस्तृत घोषित कर देना उचित नहीं है। वस्तुतः शास्त्रीय समीक्षा और वैज्ञानिक शोध दोनों का ही स्तरीय महत्व बहुत अधिक है और इन दोनों को ही वह महत्व प्राप्त है।

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। उनमें से एक शोधपरक भी है। बीसवीं शताब्दी में भारत विविध विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शोध कार्य के रूप में प्राचीन साहित्य की खोज और मूल्यांकन के साथ ही आधुनिक साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के विषय में भी वृहत् प्रवन्धों की रचना की गयी है। शोध के अनेक रूपों का निधारण हुआ है तथा उसकी वैज्ञानिक प्रणालियों की भी रचना हो रही है। उच्च शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ शोध कार्य का भी विकास होता रहा है। अब भारतवर्ष के विविध विश्वविद्यालयों मे हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी समीक्षा विषयक इतना अधिक कार्य हो रहा है कि इसकी एक स्वतंत्र शैली ही विकसित हो गयी है। इसी को हम शोधपरक समीक्षा की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बन्धित शोध कार्य के इतिहास को देखने पर यह ज्ञात होता है कि उसका आरम्भ विदेशी विश्वविद्यालयों में हुआ। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम सन् १९१८ में लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा 'तुलसीदास का धर्मदर्शन' अथवा 'थियालोजी आफ तुलसीदास' शीर्षक प्रवन्ध पर श्री जे० एन० कारपेंटर को 'डाक्टर आफ डिविनिटी' की उपाधि प्रधान की गयी। भारतीय विश्वविद्यालयों में सर्वप्रथम डा० बाबूराम सक्सेना को 'अवधी का विकास' अथवा 'ईवोल्यूशन आफ अवधी' शीर्षक प्रबन्ध पर प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट० उपाधि सन् १९३१ में प्रदान की गयी थी। उसी समय से हिन्दी में शोध कार्य का आरम्भ मानना चाहिए, जो इस प्रवृत्ति का रूप निर्धारक है।

हिन्दी में शोध ग्रन्थों का लेखन जिस तीव्र गति से हुआ है, उसका प्रकाशन उस गति से नहीं हो सका है। नवीन प्रबन्धों को छोड़कर पहले लिखे गये अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं। इसलिए शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्वरूप का परिचय सम्यक् रूप से नहीं प्राप्त हो सकता है। इसलिए यहां हिन्दी में किये गये शोध कार्य को कुछ शीर्षकों में विभाजित करके उनका परिचय प्रस्तुत किया जायगा। इनके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में अन्य विषयों के अनुसार भी प्रबन्ध रचना हुई है, परन्तु उनमें प्रवृत्तिगत अध्ययन की प्रधानता है। इस कारण उनकी चर्चा यहां नहीं की जा रही है। इस सम्बन्ध में यहां पर यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि उपलब्ध विवरण के आधार पर विषय विभाजन करते समय अनेक ऐसी शोध कृतियों के नाम भी यहाँ आ गये हैं, जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हो सका है।

हिन्दी में जो साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति है, उसका विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे कृतियां आती हैं, जिनका सम्बन्ध विविध कवियों के स्वतन्त्र अध्ययन से है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत हिन्दी काव्य के विविध सम्प्रदायों के अध्ययन से सम्बन्धित कृतियाँ को लिया जा सकता है तथा तीसरे वर्ग के अन्तर्गत उन कृतियों की गणना की जा सकती है जिनका सम्बन्ध साहित्य शास्त्र के सैद्धान्तिक अध्ययन से है। प्रवृत्तिगत अध्ययन प्रायः आधुनिक युगीन साहित्य समीक्षा से ही सम्बन्धित है। इस कारण से उनकी चर्चा यहां पर नहीं की जा रही है।

हिन्दी में कविपरक शोध प्रवृत्ति के अन्तर्गत सर्वप्रथम डा० बल्देवप्रसाद मिश्र का नाम लिया जा सकता है। उनका ग्रन्थ 'तुलसी दर्शन' शीर्षक से सन् १९३८ में डी० लिट्० की उपाधि के लिए नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत किया गया था। किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय से शोध उपाधि के लिए स्वीकृति की जाने वाली किसी कवि के स्वतंत्र अध्ययन से सम्बन्धित यह सर्वप्रथम कृति थी। बाद में यह रचना हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुई। इससे हिन्दी में कवियों के स्वतंत्र अध्ययन की परम्परा का तीव्रगति से प्रसार हुआ और हिन्दी के अनेक महाकवियों के जीवन और कृतित्व से सम्बन्धित खोज का कार्य हुआ।

महाकवि तुलसीदास के स्वतंत्र अध्ययन से सम्बन्धित अन्य समीक्षकों में तुलसीदास : जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन के लेखक डा० माता प्रसाद गुप्त, तुलसीदास और उनका युग के लेखक डा० राजपति दीक्षित, तुलसी दास जीवनी और विचारधारा के लेखक डा० राजाराम रस्तोगी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

महाकवि सूरदास के जीवन और कृतित्व पर स्वतंत्र अध्ययन प्रस्तुत करके डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने प्रयाग विश्वविद्यालय से डी०लिट् की उपाधि प्राप्त की। उनके शोध का विषय सूर, : जीवनी और कृतियों का अध्ययन था। यह ग्रन्थ बाद में हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् सूरदास पर अन्य भी अनेक शोध कर्ताओं ने खोज कार्य किया है।

महाकवि सूरदास के स्वतंत्र अध्ययन से सम्बन्धित अन्य समीक्षकों में "सूरदास और उनका साहित्य" के लेखक डा० हरवंशलाल शर्मा तथा 'सूर की काव्य कला' के लेखक डा० मनमोहन गौतम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। तुलसीदास तथा सूरदास के अतिरिक्त अन्य महाकवियों के स्वतंत्र अध्ययन करने वाले समीक्षकों में 'रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन' के लेखक डा० नगेन्द्र, चन्दवरदायी और उनका काव्य के लेखक डा० विपिन विहारी त्रिवेदी, केशवदास : उनके रीति काव्य का विशेष अध्ययन के लेखक डा० किरण चन्द्र शर्मा;, जायसी : उनकी कला और दर्शन के लेखक डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ, रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला के लेखक डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट, मीराबाई के लेखक डा० छोटेलाल, अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति के लेखक डा० अम्बादत्त पन्त, घनानन्द और मध्यकाल की स्वच्छंद काव्यधारा के लेखक डा० मनोहरलाल गौड़, सन्त सुन्दरदास के लेखक डा० महेश चन्द्र सिहल, कवि परमानन्द और उनका साहित्य के लेखक डा० गोवर्द्धनलाल शुक्ल, परमानन्ददास : जीवनी और ग्रन्थ के लेखक डा० श्याम शकर दीक्षित, सन्त कवि मलूकदास के लेखक डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, आचार्य केशवदास के लेखक डा० हीरालाल दीक्षित, आचार्य भिखारीदास के लेखक डा० नारायणदास खन्ना, मतिराम : कवि और आचार्य के लेखक डा० महेन्द्रकुमार, केशव और उनका साहित्य के लेखक डा० विजयपाल सिह, कबीर की विचारधारा के लेखक डा० गोविन्द त्रिगुणायत, हिन्दी के आरम्भिक स्वच्छंदतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन के लेखक डा० रामचन्द्र मिश्र, 'प्रसाद का काव्य' के लेखक डा० प्रेमशंकर तिवारी, प्रसाद का काव्य और दर्शन की लेखिका डा० ज्ञानवती अग्रवाल, 'द्विजदेव और उनका काव्य' के लेखक डा० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता के लेखक डा० उमाकान्त गोयल तथा 'गुप्त जी का काव्य विकास' के डा० कमलाकान्त पाठक का नाम लिया जा सकता है।

हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय शीर्षक प्रबन्ध की रचना करके डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सन् १९३४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। यह ग्रन्थ बाद में पं० परशुराम चतुर्वेदी तथा डा० भागीरथ मिश्र द्वारा सम्पादित होकर अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित किया गया। इसमें लेखक ने हिन्दी शोध के क्षेत्र में एक दिशा की ओर संकेत किया, जिसके अनुसार इसकी परम्परा का दीर्घ प्रसार परवर्ती काल में दिखायी पड़ता है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में विविध साम्प्रदायिक काव्य सम्प्रदायों के शोधात्मक अध्ययन की परम्परा में अष्टछापी कवियों का विवेचन सर्वप्रथम डा० दीनदयालु गुप्त द्वारा किया गया। उन्होंने सन् १९४४ में प्रयाग विश्वविद्यालय से अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय शीर्षक प्रबन्ध पर डी०लिट्० की उपाधि प्राप्त की। उनका ग्रन्थ बाद में हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा दो भागों में प्रकाशित कर दिया गया। इस ग्रन्थ में लेखक ने अष्टछाप के

अन्तर्गत गिने जाने वाले आठ कवियों सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी तथा छीतस्वामी के जीवन काव्य और विचारधारा का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के पश्चात् इन कवियों पर स्वतंत्र रूप से अध्ययन की भी प्रेरणा मिली तथा अनेक शोध कर्ताओं ने इससे प्रभाव ग्रहण करके उनका अध्ययन किया।

डा० मुंशीराम शर्मा ने सर्वप्रथम भारतीय साधना और सूर साहित्य शीर्षक प्रबन्ध की रचना करके आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५१ में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। हिन्दी में भक्ति भावना और धर्म साधना के विशेष सन्दर्भ में लिखित यह विशिष्ट महत्व की कृति है। यह ग्रन्थ साधना सदन, कानपुर द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है। भक्ति भावना के विस्तृत अध्ययन से सम्बन्धित दूसरी शोध कृति की रचना डा० मुंशी राम शर्मा द्वारा वैदिक भक्ति और हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति शीर्षक से की गयी। इस ग्रन्थ पर लेखक को आगरा विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५६ में डी०लिट् की उपाधि प्रदान की गयी। बाद में यह ग्रन्थ भक्ति का विकाश शीर्षक से चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ। इतने व्यापक सन्दर्भ और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत की गयी यह अपने विषय की सर्वप्रथम शोध कृति है।

इसी प्रवृति के अन्तर्गत भिन्न भाषाओं के साम्प्रदायिक कवियों के अध्ययन की दिशा में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कार्य डा० विनयमोहन शर्मा द्वारा किया गया। उन्होंने हिन्दी को मराठी सन्तों की देन शीर्षक प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि सन् १९५६ में नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा प्राप्त की। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत सन्त साहित्य पर 'मध्यकालीन सन्त साहित्य' के लेखक डा० रामखेलावन पांडेय तथा 'संत कवि रविदास और उनके पंथ 'शीर्षक प्रबन्ध के डा० भगवत्व्रत मिश्र ने भी कार्य किया।

सम्प्रदायपरक शोध प्रवृत्ति के अन्तर्गत अन्य समीक्षकों में 'रामान्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव' के लेखक डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय' के लेखक डा० भगवती प्रसाद सिंह, 'स्वामी हरिदासजी सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य' के लेखक डा० गोपालदत्त शर्मा, 'जायसी के परवर्ती सूफी कवि' की लेखिका डा० सरला शुक्ल, 'नाथ सम्प्रदाय के हिन्दी कवि' के लेखक डा० शान्ति प्रसाद चन्दोला, 'शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी काव्य' के लेखक डा० रामचन्द्र तिवारी, 'राधावल्लभ सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हितहरिहर वंश का विशेष अध्ययन' के लेखक डा० विजयेन्द्र स्नातक, 'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' के लेखक डा० गोविन्द त्रिगुणायत, 'सिद्ध साहित्य' के लेखक डा० धर्मवीर भारती तथा 'सूफी मत और हिन्दी साहित्य' के लेखक डा० विमलकुमार जैन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं,

हिन्दी में शास्त्रपरक शोध प्रवृत्ति के प्रारम्भ का श्रेय डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' को है। उन्होंने 'हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास' शीर्षक प्रबन्ध की रचना करके प्रयाग

विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९३७ में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की । यह ग्रन्थ इस विषय पर प्रस्तुत की गयी सर्वप्रथम शोध रचना है । इसके पश्चात् हिन्दी शोध के क्षेत्र में साहित्य शास्त्र के विविध सम्प्रदायों तथा प्रवृत्तियों से सम्बन्धित शोध कार्य हुआ ।

इसी परम्परा में साहित्य शास्त्र के सभी सम्प्रदायों का ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वांगीण अध्ययन उपस्थित करने की दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य डा० भागीरथ मिश्र ने किया । उन्हें सन् १९४७ में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' शीर्षक प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी । बाद में यह ग्रन्थ लखनऊ विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित भी कर दिया गया ।

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत साहित्य शास्त्र के अध्ययन सम्बन्धी शोध कार्य करने वालों में 'हिन्दी छन्द शास्त्र के लेखक डा० जानकीनाथसिंह 'मनोज', 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' के लेखक डा० भोलाशंकर व्यास, 'मनोविज्ञान के प्रकाश में रस सिद्धान्त का अध्ययन' के लेखक डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' तथा 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना' के लेखक डा० पुत्तूलाल शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

भाषा वैज्ञानिक शोध की प्रवृत्ति का विकास हिन्दी में कई रूपों में हुआ । इस विषय पर लिखे गये शोध प्रबन्धों का विभाजन अनेक वर्गों में किया जा सकता है । अभी तक हिन्दी में भाषा विज्ञान विषयक जो शोध कार्य हुआ है, वह प्रारम्भिक कार्य ही है तथा इस क्षेत्र में व्यापक संभावनाओं की ओर संकेत करता है । इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत हुए कार्य को ऐतिहासिक, व्याकरणिक, बोलीपरक, तुलनात्मक आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' के लेखक डा० धीरेन्द्र वर्मा, 'हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास' के लेखक डा० उदय नारायण तिवारी, 'अवधी का विकास' के लेखक डा० बाबूराम सक्सेना, 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास' के लेखक डा० नलिनी मोहन सान्याल तथा 'मैथिली भाषा का विकास' के लेखक डा० सुभद्रा झा के नाम उल्लेखनीय हैं । इन सब रचनाओं में लेखकों का दृष्टिकोण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भाषा के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करना रहा है ।

व्याकरणिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' के लेखक कामता प्रसाद गुरु तथा 'ब्रज भाषा : व्याकरण' के लेखक डा० धीरेन्द्र वर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'आजमगढ़ जिले की कृषक शब्दावली' के लेखक हरिहर प्रसाद गुप्त, 'मथुरा जिले की कृषक और व्यावसायिक शब्दावली' के लेखक डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन', गढ़वाली भाषा का 'अध्ययन' के लेखक डा० थपलियाल, 'आगरा जिले की बोली' के लेखक डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'निमाड़ी भाषा और साहित्य' के लेखक डा० कृष्णलाल

हंस तथा 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' के लेखक डा० हीरालाल माहेश्वरी आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

इस प्रवृति के अन्तर्गत 'प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' के लेखक डा० कैलाशचन्द्र भाटिया का नाम उल्लिखित किया जा सकता है। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन की परमपरा का विकास अब तीव्रतर गति से होने की सम्भावनाएँ हैं, क्योंकि विविध क्षेत्रीय अध्ययन उपलब्ध हैं तथा उनके तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता अधिक है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भाषा विज्ञान विषयक शोध का क्षेत्र अभी तक बहुत उपेक्षित था। इस समय भी आवश्यक यन्त्रों तथा साधनों के अभाव में इस दिशा में सम्यक् रूप से कार्य नहीं हो रहा है। इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति भी विद्वानों में अपेक्षाकृत कम रही है। अब अनेक विश्वविद्यालयों में भाषा विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन तथा शोध के विकास को महत्व देने के साथ ही उस क्षेत्र में रुचि भी बढ़ रही है और इस दृष्टि से इसकी सम्भावनाएँ भी आशाजनक हो सकती हैं।

२१

आधुनिकता और आलोचना के मान मूल्यों का प्रश्न

डॉ० वेचन

आलोचना के मान मूल्यों को ऐतिहासिक प्रक्रिया से अलग रखकर चर्चा का विषय नहीं बनाया जा सकता है। आधुनिकता का काल निर्धारण इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के अध्ययन मनन के अन्तर्गत आ ही जाता है। साहित्य के मूल्यों की तरह आधुनिकता के मूल्य भी जीवन से ही निर्धारित किए जा सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं की अन्ततः जीवन और साहित्य दोनों बड़े रहस्यमय होते हैं। अतएव एक युग के जीवन मूल्यों को उसी युग के साहित्यिक मानमूल्यों से मिलाया जाना हमारी समझदारी और विश्लेषण के क्षेत्र को व्यापक बनाता है। फलतः हमारी साहित्यिक समझदारी इससे बढ़ती है। साहित्यिक प्रक्रिया के अध्ययन के साथ आलोचना के मानमूल्यों का अध्ययन क्यों किया जाय, यह एक प्रश्न हो सकता है! इसका सीधा उत्तर यह है कि यदि हम ऐसा करते हैं तो इससे समकालीन जीवन के प्रति हमारा साहित्य बोध जाग्रत होता है। इससे भी अधिक उत्तर के औचित्य की संस्थपिति यह है कि अतीत का जीवन और साहित्य अपने युग सापेक्ष मूल्यों के लिए महत्वपूर्ण है साथ ही यह व्यक्ति की चेतना के पारदर्शी रूप को स्पर्श भी करता है और उसके सापेक्षिक जीवन मूल्यों को विकसित भी करता है।

आधुनिकता के संदर्भ में आधुनिक जीवन मूल्यों का यही सार्थक अध्ययन है जिसकी शुरूआत इंगलेंड से हुई है जिसे हम "आधुनिक और आधुनिकतावादी" साहित्य कहते हैं उसकी प्रायः एक ही प्रकार की विशेषताएँ सभी देशों में हैं। इसी प्रकार अनिवार्यतः आधुनिक इतिहास का विकास भी हुआ है। मूल रूप से आधुनिक कहने से यह बोध नहीं होता कि जो कृतियाँ सद्यः प्रकाशित हों अथवा जिसका प्रकाशन काल विशेष में हुआ हो वही आधुनिक है। वस्तुतः जब किसी काल अथवा 'कृति' को हम आधुनिक कहते हैं तो उसके पीछे एक निश्चित धारणा और विशेषताओं का आरोपन किया जाता है। फलतः किसी तिथि और ईसवी का इस सन्दर्भ में कोई प्रश्न नहीं उठता। हालाँकि हिन्दी साहित्य में "आधुनिकता' का यह बोध १८५० के लगभग समझा गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही हिन्दी साहित्य का काल विभाजन करते हुए "रीतिकाल" के बाद के हिन्दी साहित्य को आधुनिक युग का साहित्य कहा। प्रख्यात प्रगतिवादी आलोचक श्री शिवदान सिंह चौहान

ने लिखा है—— "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में संवत् १६०० [सन् १८४३] से अब तक के विकास को आधुनिक काल के अन्तर्गत रखा है ।" आचार्य शुक्ल ने शायद "आधुनिकता" को वहाँ समकालीन के अर्थ में समझ कर ही प्रयोग में लाया होगा । क्योंकि शुक्ल जी स्वयं उस विकसित युग के भागीदार थे । उनके समक्ष ही यह आधुनिक काल संगठित और विकसित हो रहा था । आधुनिक काल इसीलिए एक रूढ़ अथ को लेकर चला जिसकी विशेषता थी "राष्ट्रीय जागरण" । श्री शिवदान सिंह चौहान जी ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है——" ऐतिहासिक संयोग और चारित्रिक विशेषता के आधार पर इस समूचे आधुनिक काल को, जब से हिन्दी गद्य साहित्य का विकास हुआ है, "राष्ट्रीय जागरण" का युग कहना ही उपयुक्त है । यह युग अभी तक समाप्त नहीं हुआ ।" इस "राष्ट्रीय जागरण की तुलना योरोप के" रिनेसां (Renaissance) से की गई ।" योरोप का सांस्कृतिक पुर्नजागरण मध्ययुगीन सामन्तवादी मान्यताओं और परम्पराओं से विच्छेद करने की भावना से प्रेरित था ।" हमारे देश का राष्ट्रीय जागरण अपने में प्राचीन सामन्ती समाज की सड़ी-गली रूढ़ियों; मान्यताओं, धार्मिक अन्धविश्वासों, कुप्रथाओ, आर्थिक-सामाजिक अन्याय, वर्णभेद, छूतछात तथा अंग्रेजों की गुलामी, शोषण और अत्याचार के विरुद्ध एक ज्वलन्त चुनौती रहा है ।........जीवन की गतानुगतिका, कूपमण्डूकता और संकीर्णताओं के जाल को छिन्न-भिन्न करनेवाले समानता, न्याय, सत्य और स्वतंत्रता के उदात्त मानवीय विचारों को मूर्त्त साहित्यिक अभिव्यक्ति देकर ही हमारे गद्य साहित्यों ने वैविध्य और प्रौढ़ता प्राप्त की ।"

आधुनिकता के रूप में परिवेष्टित होकर ये विशेषताएँ साहित्यिक मानमूल्यों के आधार बनते रहे । राष्ट्रीय जागरण के बाद, छायावादी-प्रगतिवादी युग एवं यथार्थवाद और समाजवाद की परिवर्तित मान्यताओं ने आधुनिकता के कई एक आयाम बनाये । इसीलिए इन आयामों के अन्तर आपस में इतने अनजाने लगने लगे कि राष्ट्रीय जागरण की पीठिका भुला देने पर आधुनिकता का काल निर्धारण १६५० ई० के लगभग खिसक आया । ऐसी समझदारी से जो भ्रान्तियाँ होंगी, उससे निश्चय ही आलोचना के नये मान मूल्यों के प्रश्न सुलझाये नहीं जा सकते । वस्तुतः १६५० ई० में भारत में गणतन्त्र की स्थापना के बाद एक नयी चेतना अवश्य आयी, जो प्रत्येक देश में आजादी के बाद उत्पन्न होती है । किन्तु इससे साहित्य सृजन की व्यवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया ।

"हिन्दी साहित्य में आधुनिकता को सदैव लोक-चेतना के अर्थ में ही समझा जाना चाहिये, जिसका प्रारम्भ सन् १६३६ ई० से ही हो जाता है, यथा, प्रगतिशील लेखकों की समाजवादी-जनवादी परम्परा और आधुनिकता के बोध को ही आधुनिक (मोडर्न) कहा जा सकता है ।" इसी समाजवादी प्रेरणा और परम्परा से उपलब्ध लेखकीय प्रतिबद्धता आधुनिकता के रूप को स्पष्ट कर देती है । इसीलिए आधुनिक लेखकों के लिए प्रतिबद्ध होना आवश्यक होता है । अप्रतिबद्धता की स्थिति में लेखक को निराश, कुण्ठा, आस्थाहीनता और

दृष्टि दोष का शिकार बनना पड़ता है। आज की स्थिति में, साहित्य में, हम उस विकास स्थल पर खड़े हैं जहाँ हमें यह निर्णय ले ही लेना होगा कि "आधुनिकता" कोई शिल्प का चमत्कार नहीं है और न शैली का दायित्व है बल्कि यह आस्थावादी लेखकों के साहित्यविकास की प्रक्रिया का अवलोकन है। प्रत्येक देश के साहित्य में जब यह चेतना आती है तब उसे विकसित साहित्य माना जाता है। यह चेतना इसीलिए १८५० ई० से हिन्दी में मानी जाती है, जिसका चरम विकास हमें १६५० ई० के बाद दिखाई पड़ता है। आधुनिकता की इस प्रक्रिया के विकास की अनेक सम्भावनाएँ हैं, किन्तु इन संभावनाओं को समझने में कठनाइयाँ भी अनेक हैं। उपर्युक्त संदर्भ में अभी-अभी डाक्टर देवराज ने एक आलोचकीय व्यवस्था देते हुए एक मात्र "सांस्कृतिक-बोध" को साहित्य की अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में स्वीकारा है। इसे भले ही हम "कांग्रेस आफ कलचरल फ्रीडम" के सूत्र-सिद्धान्तों के रूप में नहीं स्वीकारें, किन्तु इतनी बात तो अवश्य जान पड़ती है कि यह "सांस्कृतिक बोध" आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन में साहित्य के आधुनिक बोध को शायद भ्रान्त कर सकता है। डाक्टर देवराज ने कहा है कि प्रतिभाव के रूप में **सांस्कृतिक बोध** (जोर मेरा) को, इस समय मैं उतना ही महत्व देता हूँ, जितना कि कलासिकी, काव्य के प्राणतत्व के रूप में, रस को देते रहे हैं। "डो० देवराज ने कभी साहित्य को आवेष्टन की प्रतिक्रिया भी कहा था। यह आवेष्टन प्रत्येक युग के साथ बदलता है, इसीलिए प्रत्येक युग का साहित्य पीछे छूटे हुए युग की सांस्कृतिक संवेदना की पुनरावृत्ति नहीं होता है। "साहित्य संस्कृति की एक अभिव्यक्ति है।" इसीलिए साहित्य के इतिहास द्वारा संगठित सांस्कृतिक मूल्य आलोचना के मान मूल्यों का निर्धारण उस युग के लिये करते हैं। और आलोचक उन मूल्यों को खोजने के क्रम में यह देखने का प्रयास करता है कि उस युग के लेखक ने कितनी ईमानदारी से समकालीन युग को सांस्कृतिक बोध के दर्शन कराये। "सांस्कृतिक बोध" का यह सिद्धान्त कुछ व्याख्या और स्पष्टीकरण की उपेक्षा रखता है किन्तु सांस्कृतिक बोध कोई ऐसा सर्वमान्य पैमाना नहीं हो सकता बिना प्रयोग किये कोई उच्च कोटि का लेखक नहीं बन सकता है। यह "सांस्कृतिक बोध" अपने-अपने युग के लिए आधुनिक बोध का निर्धारण भी करता है। "आधुनिक बोध" का स्पष्ट अर्थ यह होता है कि लेखक या कवि ने सामाजिक दायित्व का निर्वाह करते हुए अपने-अपने युग को आगे बढ़ाने में कितनी सहायता की, कितना योगदान किया।

अंग्रेजी के एक आलोचक ने बड़े अह्लाद के साथ इन्हीं बातों को अपने शब्दों में कहा था—-"फोर नो पोयट केन बीए ग्रे ट पोयट इन एनीटाइम, बीदाउट बीइंग मोडर्न इन देट टाइम" कोई भी कवि बड़ा कवि किसी भी युग में नहीं बन सकता है जब तक वह अपने युग का आधुनिक कवि न हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक कवि अथवा कलाकार वही कहला सकता है जिसमें समकालीन जीवन सम्बन्धों के साथ-साथ आधुनिक परिवेश की जागरूकता और शैली में आधुनिक विधान का प्रकृत प्रतिबिम्ब झांकता हो। आधुनिकता की यह विशेषता अनुभूत शैली और आकृति की संवेदनीयता को विषय वस्तु से अधिक प्रदर्शित करता

है। इस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तनक्रम और साहित्य विकास के परिप्रेक्ष्य में पंत, बच्चन, और दिनकर को आधुनिक नहीं कहा जा सकता। हालांकि ये साहित्यकार वैज्ञानिक चिन्तनक्रम के प्रति सजग रहे तथापि अपनी अभिरुचि और अभिव्यक्ति में ये समकालीन परम्परागत तर्क बुद्धिवाद का परिचय देते रहे जिसे लारेंस ने चेतन आत्मा कहा है। ये समकालीन अहं का विस्फोट करते रहे, और ऐसा विश्वास होता रहा कि ये अनाचारों और विवेक-हीनताओं के संसार से बाहर खड़े हो कर परम्परागत मूल्यों को एक तर्क के द्वारा एक चुनौती देते रहे हैं। ऐसे रचनाकार हिन्दी में आये, जिनमें अग्रणी भगवती चरण वर्मा को कहा जा सकता है। चित्रलेखा, तीन वर्ष और उनकी कविताओं का संग्रह इसका एक सुन्दर उदाहरण है। निराला, अज्ञेय और जैनेन्द्र के यहां विस्फोट को तर्क का आधार भी मिलता रहा। इसीलिए शेखर, सुनीता और तुलसीदास के चारित्रिक गठन का मूल कल्पना और परम्परा की टक्कर से अधिक निर्मित हुआ, आधुनिक व्यक्तिवाद से कम। आधुनिक व्यक्तिवाद समाजवाद का पर्याय है। ये साहित्यकार यह अनुभव नहीं कर सके कि वे लोग भौतिकवादी समाज के द्वारा अपनी प्रकृतियों में प्रतिबन्धित थे, और उन्हें स्यात् अचेतन शक्तियों द्वारा या अतिक्रान्तिक जागरूकता के सृजन द्वारा इसकी सतहों से निःसृत करने के लिए ऐसे प्रतिबन्ध के परिणामों का प्रतिबिम्ब और प्रत्युत्तर अपनी कला में प्रस्तुत करना था, मानों आवागमन का अतीत के मूल्यों के साथ अनन्तरित स्त्रोत था, जिसमें उन्होंने लिखा। आधुनिक में ज्यादातर व्यक्तिवादी धारणा लेकर छायावादी युग में उभरे जिन्हें वोलटेयर के विचारों का वाहक भी कहा जा सकता है, किन्तु ये व्यक्तिवादी जब सचमुच आधुनिकता की व्यापक आन्तरिकता को स्वीकार ने लगे तो इनमें से अधिकांश समाजवादी विचारों से प्रभावित हुए जिनमें यशपाल, प्रभाकर माचवे, नरेन्द्र शर्मा आदि का नाम लिया जा सकता है।

इसी प्रसंग में स्टीफन स्पेंडर ने अपनी पुस्तक "टी स्टग्ल ऑफ दी माडर्न" में कहा है कि जिसे मैं वोलटेयर का अहं कहता हूं वह उन्नति के इतिहासान्तर्गत सम्मिलित होता है। जब यह आलोचना; व्यंग्य और आक्रमण करती है तब इसके द्वारा प्रभाव, निर्देश विरोध और स्थायी शक्तियों को संचालित करने के लिये ऐसा करती है। जार्ज बर्नार्ड शा और वेल्स आदि का वोलटेयर विषयक अहं घटनाओं पर क्रियाशील रहता है। इलियट और प्राउस्ट आदि का आधुनिक अहं द्वारा परिचालित किया जाता है। वोलटेयर का अहं का तर्क बुद्धि-वाद प्रगतिशीलता और राजनीति आदि की विशेषता है। संसार को लेखक प्रभावित करने का प्रयत्न करता है; जबकि आधुनिक "अहं" विलक्षणता, वेदना एवं निष्क्रियता से संसार को रूपान्तरित करता है, जिसके समक्ष यह अनाच्छादित है। वोलटेयर से संबद्ध अहंवादियों का विश्वास है कि अनिष्टकर से सुन्दरतर कम में विशिष्ट सामाजिक अभ्यास या सृजनात्मक प्रतिभा की सांस्कृतिक प्रज्ञा, लेखक पेगम्बर द्वारा वे परवर्ती विश्व की शक्तियों से संचालित क गे।

आधुनिकों का विश्वास है कि वे अपनी चेतना शक्ति की स्वीकृति से वेदना के अनुरूप

आधुनिक अनुभव द्वारा क्रियाशील होंगे ; वे आंशिक रूप से अचेतन प्रक्रमों के परिणाम स्वरूप क्रान्तिक चेतनत्व के अभ्यास, नवीन कला की वागभंगियों और आकृतियों से सर्जना करेंगे। आधुनिक वेदना चेतना शक्ति और भूतकालिक अदृष्टपूर्व की अनुभूत जागरूकता है। वोलटेयर से सम्बद्ध अहंवादी सुरुचिपूर्ण नहीं होने के कारण समकालीन या साहित्यिक दृष्टिकोण से आधुनिक है। वे जो कुछ लिखते हैं, वह तर्क बुद्धिवादी, समाजशास्त्रीय राजनीतिक और उत्तरदायी है। आधुनिकों का लेख उनकी चेतनाशक्ति पर प्रेक्षित स्थितियों की क्रिया से सजग प्रेक्षकों की कला है। उनकी क्रान्तिक सतर्कता वक्रोक्तिपूर्ण आत्मलोचना को समाविष्ट करती है। उदाहरण के लिये प्रुफ्रॉक के कथन को लिया जा सकता है, जो कहता है………"मैं राजकुमार हेमलेट नहीं हूं, न होने की कल्पना ही की थी।"

सन् १९५० के बाद के हिन्दी कवियों ने अपनी कल्पना के द्वारा अपनी तुलना "कर्ण" से की। हेमलेट–अभिमन्यु आदि के प्रतीक उनके सार्थक आधार बने। यही आधुनिक और आधुनिकता का भावात्मक रूप है। डॉ० नगेन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "रस सिद्धान्त" के परिप्रेक्ष्य में नयी कविता और आधुनिकता का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए निष्कर्ष दिया है—'द्विवेदी युग के संस्कारी कवि ने महाभारत की अतीत कथा में अपनी वर्तमान अनुभूति के अनुसार अधर्म के विरुद्ध धर्म की विजय प्रतीति की, और नये कवि को महाभारत का युग "अन्धा" प्रतीत हुआ। इन्हीं भावानुभूति को व्यक्त करते हुए एक नये कवि ने लिखा है।

ओ मेरी निष्ठा के असंख्य युवापुत्रो।
यदि तुम में से किसी में मेरा रक्तवीर्य हो
तो माँ का वध करो।
लेकिन मैं यमदग्नि नहीं था
पुत्र परशुराम नहीं हुआ।"

ऐसी आधुनिक कविताओं के संबंध में डाक्टर नगेन्द्र ने लिखा है–"इस प्रकार आधुनिकता का भावबोध और उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति का आग्रह इस कविता के केन्द्रीयतत्व हैं। आधुनिकता के वास्तविक अर्थ के विषय में नये विचारकों में मतभेद है। एक मत यह है कि आधुनिकता का सीधा अर्थ सम सामयिकता है, परन्तु दूसरा मत दोनों में मतभेद करता है, और आधुनिकता को अधिक आन्तरिक मूल्यगत भाव मानता है। सामान्यतः "आधुनिकता परिवर्तित भाव–बोध की वह स्थिति है, जिसका प्रादुर्भाव यांत्रिक तथा वैज्ञानिक विकासक्रम के वर्तमान विन्दु पर आकर हुआ है। "जबकि संसार की सामूहिक आत्महत्या का भय उत्पन्न हो गया है।" "विश्वव्यापी सन्दर्भ ने मानवीय भाव–बोध को एक गहरा आघात पहुंचाया है और समस्त परम्परागत मान्यताएं बह गयी हैं। सुदृढ़ आस्थाओं के स्थान पर आकंठ अवसाद भय, आशंका, संशय, अनिश्चय, क्षोभ, आक्रोश, बिडम्बना से मानवमन आक्रांत हो उठा है। वह अपने बाह्य जीवन में अजनबी तथा आन्तरिक जीवन में

स्वयं को विस्थापित अनुभव करने लगा है। चीजों का स्वरूप आमूल बदल जाने के कारण दोनों ही ओर से उसकी संपृक्ति टूट गयी है। क्रमशः उसकी जीवन-पद्धति तथा विचारों में अनोखा तनाव, उद्विग्नता, अशान्ति; विघटन तथा "स्थायी संक्रान्ति" का वातावरण समा गया है। वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती चली गयी हैं। आत्मनिष्ठ दृष्टियों का विकास हुआ है। ....बाह्य परिस्थिति से सामंजस्य न होने के कारण एक प्रकार की असम्पृक्तता चारों ओर दिखायी पड़ती है। ममत्वहीनता के कारण बौद्धिक निस्संगता की प्रवृत्ति विकसित हुई है। आस्थाहीनता के शून्य की परिणति समस्त चीजों को मिथ्या और सारहीन समझ कर ग्रहण करने में हो रही हैं।"

(हिन्दी वार्षिकी, १९६१, गिरिजा कुमार माथुर)

"आस्था और तज्जन्य आन्तरिक समाहिति के अभाव में यह कविता निरानन्द है—निरानन्द होने का दावा करती है। अतः दर्शन में एकान्त व्यक्ति परक, किन्तु "वर्णन" में उतनी ही वस्तुपरक है यह कविता। यह भाव की कविता नहीं है—वस्तु की कविता है, अनुभूति का ग्रहण यहां तरल भावना के रूप में नहीं वरन् "वस्तु" के रूप में ही होता है और बिम्बवाद की तरह अनुभूति का यह संवेदन भी यथासम्भव भाव की आर्द्रता से मुक्त, शुष्क और सघन होता है।"

"स्वभावतः इस प्रकार की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्द अर्थ के परम्परागत सम्बन्ध काफी नहीं होते, इसीलिए नया कवि नये भावबोध को रूप देने के लिये शब्द-अर्थ के नये सम्बन्धों की उद्‌भावना या स्थापना के लिये अपने को उत्तरदायी मानता है और नये अर्थ, नये प्रतीक, नये लय और इन पर आश्रित नयी बिम्ब योजना की निरन्तर उद्‌भावना करता रहता है।" [रस सिद्धान्त, पृष्ठ ३४५]

प्रूफ्रांक की तरह विचार प्रकट करने वाला नया कवि अपनी सन्देहास्पद आत्मचेतना में निश्चित रूप से इलियट पूर्व चेतनाशक्ति को प्रतिबिम्बित करता है, किन्तु प्रूफ्रांक के समकालीन शा, वेल्स, वेनेट आदि को अपने विषय में कुछ भी शंका नहीं थी। परिभ्रान्ति की दुनिया में वे स्पष्ट दृष्टि वाले सामाजिक पैगम्बर थे। यही स्थिति हिन्दी में उन नये कवियों के बीच दृष्टिगत नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध आदि की आधुनिक रचनाएँ हैं। ये हिन्दी के पैगम्बर हैं, इनकी दृष्टिस्पष्ट और सामाजिक है। वोलटेयर स्कूल के अहम्‌वादी रचनाकार अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा अथवा माचवे भी इसीलिए अपनी रचना प्रक्रिया में समकालीन माने जायेंगे। यह स्थिति उपाख्यान विभाजन की ओर ध्यान आकृष्ट करती है जिसे समकालीन और आधुनिक कहा जा सकता है। जिस प्रकार शॉ, वेनेट और वेल्स ने अपने को भौतिकवादी समाज के पैगम्बर के रूप में चित्रित किये, ठीक वैसा ही नागार्जुन और शमशेर ने सिद्ध किया। जिस परिवेश में वे अपने जीवन का रूप अपने काव्य के माध्य से निरूपित करते हैं, वह आधुनिकतम हैं। इस आधुनिकतम जीवन का रूप हिन्दी के कुछ नये कवियों में उभरा है। आधुनिक जीवन परिवेश की वह

यथार्थवार्ता झाँकी बदरी नारायण सिनहा की लम्बी कविता "टटका आदम" में मुखरित है। कवि पैगम्बर की तरह कहता है…………

"हम ओ" तुम ही हैं भगवान।
रे ला दिया स्वर्ग भूतल पर।
सम में बजते हैं सब स्वर।
देती फेरी पृथ्वी धुरी पर।
बंधे हुये हैं गोलार्द्ध दूरी पर।
नाच रहे हैं ताली देकर
गिरि कैलाश से शंकर आकर।
लोक-त्रिलोक जुटे हुए हैं।
अंकित करते वेदों के स्वर।
देव ही नर हैं, नर ही देव या किन्नर।
अब का मानव, टटका मानव
ही होगा नाव वंशधर।
भावी झलक फलक रही है
मेरी तेरी पलक के अन्दर।
हम अवढर हम शंकर, हम ईश्वर।
हम योगेश्वर, विराट रूप गोचर।
हम ही हैं सब कुछ अल्ला हो अकबर।
हम हैं जनगण, हम हैं लोकेश्वर।"

यह आधुनिक पैगम्बर वार-बार पूरी कविता में बोलता है: भगवान और खुदा की व्याख्या करता है—

"ज्ञानी था वह बुद्ध भगवान।
महावीर साधक गुरू को भान।
करते थे वे जीव कल्याण;
इसीलिये हैं वे भगवान।
करते थे वे जीव कल्याण;
इसीलिये हैं वे भगवान।

— — —

सेवा में रत वही भगवान

— — —

इसीलिये सब हैं वे भगवान

— — —

मुहम्मद थे समदर्शी पेगम्बर

— — —

देव, पेगम्बर की लड़ी पिरोकर,

— — —

ये मूर्त्तियाँ पेगम्बरों से भिन्न हैं ।

आधुनिकता के पुरोधा कवि गिरिजा कुमार माथुर ने "सितम्बर ६६" के "धर्मयुग" में अपनी कुछ कविताओं के नमूने पेश करते हुए उनमें आधुनिकी संचेतना के परिप्रेक्ष में उभरी एक भिन्न प्रकार के नूतन विच्छेद की अभिव्यक्ति, अपनी पिछली सभी रचना-भंगिमाओं से, शायद बहुत कुछ अन्य स्वीकृत "शैलियों से भी पायी ।" कविता इस प्रकार है :—

अस्खलित अंधेरे का देश

"चार घण्टे में रात के
पन्द्रह हजार टुकड़े टूट चुके
नींद से लड़ते हुए.......
हर जगह स्खलित हुई
इसलिये यह बल्ब
उद्दीप्ति है...........
चिट्ठी नोट बुक के फोल्ड में
खुला पेन रखा है
एक बिन्दु पर बढ़ती
हटती
रेखाओं में रुका है....
खिड़कियों की जालियां बन्द हैं
बाहर का अंधेरा जिज्ञासु है
भीतर रोशनी
अब ज्यादा नंगी है
पड़े हुए—पर्दे बेकार हैं.......
हर अश्लील शब्द
भूखा है
मोहक अर्थ पाने को
हर वर्जना
आदिम विस्मय का स्वीकार है—
पैर में मच्छर काट रहा है
मेरे भीतर एक मच्छर भुन-भुना

रहा है
एक छिपकली
छोटे से भुनगे पर लपकती है
भुनगा उड़ जाता है
भूख किसी की नहीं मिटती
न छिपकली की
न अश्लील शब्द की"

आज से लगभग ढाई दशक पूर्व प्रकाशित गिरिजा कुमार माथुर को कविता "रेडियम की छाया" की याद मैं पाठकों को दिलाना चाहूंगा, जिसकी मूल संवेदना ही उपयु'क्त कविता का तथ्य प्रतीत होता है। शायद अब यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है कि आधुनिकता का बोध समय सापेक्ष्य है, रचना सापेक्ष्य है। एक दशक के जीवन मूल्य दूसरे दशक के जीवन मूल्यों से समता तो रखते ही हैं, पर दोनों के प्रभाव में अन्तर आ गया है। इसलिए यह उचित ही है, जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि एक युग के जीवन मूल्यों को उसी युग के साहित्यिक मान-मूल्यों से मिलाया जाना हमारी समझदारी और विश्लेषण के क्षेत्र को व्यापक बनाता है।

गिरिजाकुमार माथुर की दोनों कविताएँ आधुनिकता के सम्बन्ध में हमारे निष्कर्ष को पुष्ट करती हैं कि आधुनिक कला सम्यक ज्ञान है, जिसके निष्कर्ष प्रायः उच्चता से विश्लेषणात्मक आधार पर विशेषित और विस्तृत, नवीन दृष्टिक क्रम के अन्दर सम्यक ज्ञान पर रखे जाते हैं। "आधुनिक कला चिरन्तन विशिष्ट्य एवं अपरिमित समय का अपनी स्वेच्छित परम्परा के साथ शृंखलांकन करती हुई और इस प्रकार सामान्यतः कालात्मक इतिहास में अभिस्वीकृत कालानुक्रमात्मक परम्परा से विच्छिन्न होती हुई, एक दूसरे पर अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों को पारस्परिक प्रभाव द्वारा संश्लेषण के लिये संघर्ष करती है; बहुत-सी अनांकित पद्धति नवीन एकात्मक धारणा, कलात्मक स्वर संगति। दूसरे शब्दों में शैली की ओर गतिशील हो रही है।"

हरीहर प्रेस, ग्रीस मार्ग मोतीकटरा, आगरा।